आयुर्वेद - परिषद्
निबन्धावली

प्रकाशक
आयुर्वेद-परिषद्
गुरुकुल विश्वविद्यालय काँगड़ी

आयुर्वेद-परिषद्
निबन्धावली

अध्यक्ष

आयुर्वेदाचार्य श्री रामरक्षा पाठक
एफ. ए. आई. एम. (मद्रास)

संपादक

श्री कृष्ण कुमार जी
मन्त्री— आयुर्वेद-परिषद्

आयुर्वेद-परिषद्
गुरुकुल विश्वविद्यालय काँगड़ी
संवत् २००१ वि०

प्रकाशक—

कृष्णकुमार

मन्त्री-आयुर्वेद-परिषद्

गुरुकुल कांगड़ी (हरिद्वार)

प्रथम संस्करण—२००१ वि०

मूल्य पाँच रुपये

मुद्रक—

गुरुकुल मुद्रणालय

गुरुकुल कांगड़ी

(सहारनपुर)

प्रातर्वन्दनीय

कुलपिता श्री. स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के

अदृश्य श्री चरणों में—

उपहार

मन्त्री
आयुर्वेद-परिषद

पूर्व वचन

आयुर्वेद परिषद् ग्रंथमाला का यह प्रथम पुष्प अपने स्वाध्याय-प्रेमी पाठकों और शुभ-चिन्तकों के सम्मुख रखते हुए हमें बहुत प्रसन्नता हो रही है। पर्याप्त समय से इस बात का प्रयत्न किया जा रहा था कि आयुर्वेद-परिषद् द्वारा होने वाली शास्त्र-चर्चाओं और साहित्यिक प्रवृत्तियों का परिणाम आयुर्वेद-प्रेमी विद्वानों और जनसाधारण के लाभ के लिये प्रकाशित किया जाया करे। परन्तु साधनों के अभाव और युद्ध-जन्य परिस्थिति के कारण हमारा यह मनोरथ अभी तक सफल नहीं हो पाया था। इस वर्ष हम अपने इन प्रयत्नों में सफल हो सके हैं।

आयुर्वेद-परिषद् आयुर्वेद महाविद्यालय (गुरुकुल-विश्वविद्यालय कांगड़ी) की प्रमुख सभा है। इस सभा का प्रारम्भ अमर-कीर्ति स्वा० श्रद्धानन्द जी द्वारा किया गया था।

सभा का उद्देश्य प्रारम्भ से ही आयुर्वेद शास्त्र के विभिन्न अङ्गों और विषयों पर शास्त्रीय चर्चा, अन्वेषण और विवेचन करना और उनके परिणामों को आयुर्वेद प्रेमी जनता के सामने प्रस्तुत करना है। इसके सिवाय हमारा यह भी विचार रहा है कि आयुर्वेद विषयक एक उत्कृष्ट मासिक पत्र का प्रकाशन किया जाय। परन्तु आधुनिक असुविधाओं के रहते हुए उसका प्रकाशन शक्य नहीं हो सका है।

भारतवर्ष के लिए अपनी आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति यद्यपि सर्वाधिक उपयोगी है परन्तु हम वर्तमान युग के नवीन अन्वेषकों की उपेक्षा नहीं कर सकते। चिकित्साशास्त्र में इस युग के लिये उपयोगी वैज्ञानिक सत्यों की उपेक्षा करना हमारे लिये हितावह नहीं होगा। इस बात को ध्यान में रखते हुए हम अपनी आयुर्वेद-परिषद् में नवीन चिकित्सा प्रणालियों पर भी खूब चर्चा, विचार, अन्वेषण और अध्ययन किया करते हैं, और अर्वाचीन विज्ञान की गवेषणाओं से पूरा पूरा लाभ उठाते हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ आयुर्वेद-परिषद् की शरद्-कालीन व्याख्यानमाला का संग्रह है। यह ग्रंथ गुरुकुलीय आयुर्वेद महाविद्यालय के उपाध्यायों, तथा अन्य भिषक्वरों तथा चिकित्सा-विशारद डाक्टरों के परिश्रम, अध्ययन और प्रेम का परिणाम है। आशा है यह प्रयत्न आयुर्वेदविद्या, और चिकित्साशास्त्र के प्रेमी पाठकों के लिए ज्ञान-वर्धक और

उपयोगी सिद्ध होगा। विद्यार्थीगण तो इससे अवश्य ही अच्छा लाभ उठा सकेंगे।

जैसा कि हम पूर्व ही लिख चुके हैं कि इस पुस्तक में पौरस्त्य और पाश्चात्य चिकित्सा प्रणालियों के आधार पर लिखे हुए लेखों का संग्रह है। प्रत्येक लेख अपनी अपनी पद्धति के सिद्धान्तों के अनुसार ही लिखा गया है। क्योंकि आयुर्वेद का अन्य चिकित्सा पद्धतियों के साथ मिश्रण करके उपयोग करना हमें उचित नहीं प्रतीत होता, इसी कारण पुस्तक में संगृहीत विद्वान् भिषग् रत्नों द्वारा लिखे हुए लेख आयुर्वेदिक पद्धति से तथा डाक्टरों द्वारा लिखे गए लेख एलोपैथिक चिकित्सा पद्धति से प्रतिपादित किए गए हैं। इस प्रकार यह विनम्र प्रयत्न वैद्य समाज के सामने प्रस्तुत है।

तस्यायुषः पुण्यतमो वेदो वेदविदां मतः।
वक्ष्यते यन्मनुष्याणां लोकयोरुभयोर्हितम् ॥

यह आयुर्वेदशास्त्र सब वेदों में श्रेष्ठ माना गया है। यह आयुष्य और आरोग्य को देने वाला है। अतः सब को चाहिए कि ऐसे उपयोगी आयुर्वेदशास्त्र की उन्नति में साहाय्य और सहयोग प्रदान करें।

जिन जिन विद्वान् महानुभावों ने इस ग्रन्थ के प्रणयन में हमारी सहायता की है उन सबका अन्तःकरण से मैं आभार मानता हूं। पुस्तक के मुद्रण, प्रकाशन और प्रूफ

संशोधन आदि के कार्यों में जिन भाइयों ने सहयोग दिया है उनका भी मैं हृदय से धन्यवाद करता हूँ। परमपिता परमात्मा से प्रार्थना है कि हमारा यह प्रयत्न वैद्यसमाज की कठिनाइयों को सरल करने वाला हो।

निवेदक
कृष्णकुमार
मन्त्री—आयुर्वेद-परिषद्

प्रमेह-विकार

लेखक—

आयुर्वेदाचार्य श्री रामरक्षा पाठक

अध्यक्ष—आयुर्वेद-महाविद्यालय

गुरुकुल-कांगड़ी,

(हरिद्वार)

(प्रमेह यौगिक शब्द है जो प्र + मेह दो शब्दों से बना है। प्र उपसर्ग उत्कर्ष के अर्थ में आता है। मेह, मिह् + घञ् से निष्पन्न होता है। मिह सेचने और परिस्राव के अर्थ में आता है। प्रमेह का अर्थ है अधिक (प्र, प्रकृष्ट) स्राव (मेह, प्रस्राव) होना।)

परिचय—"सामान्यं लक्षणं तेषां प्रभूताऽऽविलमूत्रता। मूत्रवर्णादि भेदेन भेदो मेहेषु कल्प्यते॥" (अष्टांग)

(प्रभूत अर्थात अधिक राशि में प्रदुष्ट अर्थात असाधारण पदार्थ युक्त होने के कारण आविल (साधारण वर्ण के विपरीत) मूत्र जिसमें मनुष्य त्याग करता हो वह रोग प्रमेह कहलाता है मूत्र के वर्णादि भेद से मेह के भेदों की कल्पना की जाती है।)

उक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि 'प्रमेह रोग' मूत्र विकार है, अतः मूत्र के सम्यक् ज्ञान के लिये मूत्र का प्रकृतरूप जानना परमावश्यक है। मूत्र स्वभाव से ही पतला, स्वच्छ, ईषत्पीत और लवणाम्ल रसयुक्त होता है। प्रतिदिन मनुष्य प्रायः १६ पल (१२८ तोला या ५० औंस के लगभग) मूत्र विसर्जन करता है। स्त्रियाँ इससे कम और बालक अवस्थानुसार न्यूनाधिक

मूत्र विसर्जन करते हैं। मूत्र का द्रवत्व जल की अपेक्षा न्यून होता है। अर्वाचीन मतानुसार इसका घनत्व (Specific gravity) १००५ से १०२५ तक होता है।

प्रमाण—"मूत्रं स्वभावात् तन्वच्छमापीतं लवणाम्लकम्।
प्रायश्च षोडश पलं पुंस्यं प्रत्यहमिष्यते ॥
स्त्रीणां तु किञ्चिदूनं तद् बालानां च यथावयः ॥"

(गणनाथः)

"The renal secretion is a clear yellowish fluid, whose specific gravity may not be different from that of Blood serum being 1020. In health it has a slightly acid reaction due to the presence of acid sodium phosphate. It is chiefly compound of water holding in solution (I) Organic substances, of which the chief is urea with a very much small ammount of uric acid. (II) In-organic salts, chiefly sodium chloride, sulphstes and phosphates of sodium, potassium, calcium and magnesium. (III) Colouring matters, of which but little is known. (IV) Gases, chiefly carbonic acid with a very small ammount of nitrogen and still less oxygen. An everage healthy man excretes 1500 c.c. (50 ozs or 2½ pints) of urine each day. The quantity and composition of urine vary greatly according to the time of day, the temperature and the

moisture of the air; the fasting or relative condition of the alimentary canal, the nature of the food; and ammount of the fluid consumed."

(Thomas H. Huxley. L. L. D., F. R. S.; Lessons on Phygiology.)

उपलब्ध आयुर्वेदीय ग्रन्थों में मूत्र का वर्णन जिस प्रकार मिलता है वह इतना संक्षिप्त है कि उसे आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से देखने पर प्रायः प्रमाद हो जाया करता है। सुश्रुत निदान-स्थान अश्मरी-प्रकरण में मूत्रोत्पत्ति का वर्णन कतिपय पद्यों में किया गया है जो यहां उद्धृत किया जाता है।

"पक्वाशयगतास्तत्र नाड्यो मूत्रवहास्तु याः।
तर्पयन्ति सदा मूत्रं सरितः सागरं यथा ॥ २१ ॥
सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यन्ते मुखान्यासां सहस्रशः।
नाडीभिरुपनीतस्य मूत्रस्यामाशयान्तरात् ॥ २२ ॥
जाग्रतः स्वपतश्चैव स निःस्यन्देन पूर्यते।
आमुखात् सलिले न्यस्तः पार्श्वेभ्यः पूर्यते नवः ॥
घटो यथा तथा विद्धि वस्तिर्मूत्रेण पूर्यते ॥ २३ ॥"

(अर्थात् जैसे समुद्र में नदियां सदा (जल) तर्पण करती करती हैं वैसे जो पक्वाशयस्थ मूत्रावह नाड़ियाँ हैं वे वस्ति में मूत्र सदा तर्पण करती रहती हैं। इन नाड़ियों के हज़ारों मुख सूक्ष्म होने के कारण विदित नहीं होते। आमाशय और पक्वाशय के भीतर से नाड़ियों द्वारा आये हुवे मूत्र के निस्यन्द से वस्ति जागते सोते समय (दिन रात) भरता है। मुख तक पानी में रखा हुआ घड़ा जैसे चारों ओर के सूक्ष्म छेदों द्वारा जल के

भरने से भर जाता है, वैसे वस्ति चारों ओर के सूक्ष्म स्रोतसों द्वारा मूत्र से भर जाता है।)

इन श्लोकों में मूत्रोत्पत्ति के स्थान से वस्ति में मूत्र किस प्रकार पहुंचता है इस का वर्णन है। मूत्रोत्पत्ति कैसे होती है, इस के समझने के बाद इस श्लोक के भाव स्पष्ट हो जायेंगे।-शरीर के उदर विभाग में पिछली दिवार से लगे हुवे पृष्ठवंश की दाहिनी और बाईं ओर सीम के बीज के समान दो अङ्ग दिखाई पड़ते हैं, उनको वृक्क, गुर्दा, मूत्रपिण्ड, वस्तिशिर या Kidney कहते हैं। ये अति सूक्ष्म नलियों से बने हुए हैं। उदर विभागस्थ बृहत् धमनी (Aorta) की दो शाखाओं द्वारा रक्त इन दोनों वृक्कों में पहुंचता है। भीतर पहुँच कर इन धमनियों की असंख्य सूक्ष्म शाखाओं का जाल वृक्कस्थ नलियों के आसपास फैलता है, और इन शाखाओं के रक्त में जो खाने पीने का निकम्मा भाग रहता है उनको ये नलियां अपनी विशेष शक्ति द्वारा पृथक् कर अपने में खींच लेती हैं। इस प्रकार वृक्क की नलियों में रक्त से पृथक् किये हुवे तरल भाग को मूत्र कहते हैं। वृक्कों में एकत्र हुआ २ मूत्र दो नलियों द्वारा शनैः २ वस्ति में पहुंचता है। उक्त दो नलियों को गविनी (Ureter) कहते हैं। संक्षेप में मूत्र रक्त से वृक्क द्वारा पृथक् हो दो मूत्र प्रणालियों से वृक्क में आता है। इसी से वस्ति में तीन द्वार होते हैं। आयुर्वेद के अनुसार मूत्र की उत्पत्ति खाद्य पेय पदार्थों के किट्ट भाग से मलधरा कला, पाचक पित्त और समान वायु से आमपक्वाशय में ही होती है।:—

१. "तत्राहारप्रसादाख्यो रसः किट्टं च मलाख्यमभिनिवर्त्तते। किट्टात् स्वेद-मूत्र पुरीषाः पुष्यन्ति॥" [चरक]

२. "किट्टमन्नस्य विण्मूत्रम् ।" [चरक]

३. "विण्मूत्रमाहारमलः सारः प्रागिरितो रसः" [सुश्रुत]

४. "तच्चादृष्टहेतुकेन विशेषेण पक्वाशयमध्यस्थ पित्तं चतुर्विधमन्नं पचति । विवेचयति च रसमूत्रपुरीषाणि ॥" [सुश्रुत]

आन्त्र में उत्पन्न हुआ मूत्र असंख्य स्रोतों द्वारा वस्ति में झरता है । इन स्रोतों के मुख अदृश्य होते हैं ।

"मूत्राघाताः प्रमेहाश्च शुक्रदोषास्तथैव च ।
मूत्रदोषाश्च ये केचिद् वस्तावेव भवन्ति हि ॥"

इस प्रकार मूत्र की उत्पत्ति, संचय और निष्कासन के लिए शरीर के तीन अवयव प्रधानतः कार्य करते हैं (१) वृक्क (२) गविनी और (३) वस्ति; अर्थात् ये तीनों जब प्रकृत रूप में रहते हैं तो मूत्र में किसी प्रकार की विकृति की सम्भावना नहीं रहती । परन्तु हमारा भोजन भी मूत्र की कमी बेशी में कारण होता है । अतः मूत्र विकार से हमें समझना चाहिए कि उक्त तीन अवयवों में किसी प्रकार का विकार है, अथवा हमारे भोजन में कोई विकार है । शरीर के अन्य विकार भी मूत्र वकृति के, कारण हैं जिनके कारण मूत्र के वर्णादि में भेद या विकृति उत्पन्न हो जाती है जिनका वर्णन यथास्थान मिलेगा । मूत्रविकार कहने से मूत्रसम्बन्धी; मूत्रमार्ग-सम्बन्धी, मूत्राशय सम्बन्धी, मूत्रजननसंस्थान सम्बन्धी सभी विकारों का ग्रहण हो जाता है । किन्तु 'प्रमेह' मूत्र के केवल वे विकार हैं जिनमें मूत्र का परिमाण प्रभूत हो और वर्णादि असाधारण हों । अर्वाचीन मत के अनुसार इसे हम Anomalies of urinary secretion कह सकते हैं ।

"प्रभूतं वा ऽऽविलं वापि क्वचिद्वोभयलक्षणम्।
प्रायशश्चेत्स्रवेन्मूत्रं तदा मेहं विनिर्दिशेत्॥"

प्रभूत और आविल ये दो प्रधान लक्षण प्रमेह के हैं। हमें यह देखना है कि मूत्र की ये दो असाधारण अवस्थाएं किन २ कारणों से होता है। प्रथम प्रभूत अर्थात् मूत्र की अधिकता जिन कारणों से होती है उनका वर्णन किया जाता है।

प्रभूतमूत्र के कारण—

(१) अधिक जलपान या जलीयांश वाले पदार्थ का भक्षण।
(२) मधुमेह (Diabetes mellitus).
(३) जीर्ण केन्द्रस्थ वृक्कशोथ (Chronic interstitial nephritis).
(४) रक्तभाराधिक्य (High blood pressure).
(५) पिट्यूटरी बॉडी के रोग (Diseases of pituitary body).
(६) मूत्रल औषधों का सेवन।
(७) बहुमूत्र (Diabetes insipidus).
(८) Waxy kidney.
(९) Hydronephrosis.
(१०) ज्वरान्ते मोह (Convalscence after fever).
(११) मानसिक रोग (Hysteria, nervous excitement, chlorosis, alcholism.
(१२) During the absorption of exudations-such as pleural effusion.

आविलमूत्र के कारण—

(१) मूत्र के आपेक्षिक घनत्व की वृद्धि या ह्रास ।

(२) मूत्र में असाधारण पदार्थों का आगमन ।

(३) मूत्र में साधारण रूप से आने वाले पदार्थों का विषम रूप से आना ।

(४) मूत्र के परिमाण में न्यूनता ।

(५) असाधारण भोजन ।

प्रमेह के सामान्य लक्षणों के कारणों का वर्गीकरण स्पष्ट करने के लिए अर्वाचीन ढंग से किया गया है । प्राचीन वर्णन की शैली और ही है ! इसका कारण उस समय के विचारकों की विभिन्न विचार धारा का होना है । उस विचारधारा में और आज की विचारधारा में मौलिक भेद है । आज की वैज्ञानिक विचारधारा स्थूल के विश्लेषण में सतर्क है । ऐसे पदार्थों की गवेषणा में, जिसे वह प्रत्यक्ष नहीं कर सकते, प्रायः वे अग्रसर नहीं होते । यही कारण है कि आयुर्वेद में प्रमेह के कारणों के वर्णन में भी शरीर के वे ही मूलभूत उपादान वात, पित्त, कफ (त्रिदोष) उत्तरदायी माने गये है ।

उदाहरणार्थ—"त्रिदोषप्रकोपनिमित्ताः विंशति प्रमेहाः भवन्ति । विकारांश्चापरेऽपरि संख्येयाः ॥ यथा त्रिदोष प्रकोपः प्रमेहानभिनिर्वर्त्तयति तथानुव्याख्यास्यामः ॥" [चरक निदा० ४]

"इह खलु निदान दोष दूष्य विशेषेभ्यो विकाराणां भावाभावप्रतिविशेषाः भवन्ति । यदा ह्येते त्रयो निदानादिविशेषाः परस्परं नानुबध्नन्ति न तदा विकाराभिनिर्वृत्तिर्भवति । चिराद्वाप्यभिनिर्वर्त्तयन्ते विकाराः । तनवो वा भवन्ति । अयथोक्त सर्व लिङ्गा वा ॥ विपर्यये विपरीताः ॥ इति सर्व विकारभावाभावप्रतिविशेषाभिनिर्वृत्तिहेतुर्भवत्युक्तः ॥"

[चरक नि० ४]

आयुर्वेद में प्रमेह का कारण निम्न रूप से वर्णित हैं—

"दिवास्वप्नाव्यायामालस्यप्रसक्तं शीतस्निग्धमधुरमेधद्रवान्नपान सेविनं पुरुषं जानीयात् प्रमेही भविष्यति इति।" [सुश्रुत नि० ६]

अर्थात् दिन को सोने वाला, शारीरिक परिश्रम न करने वाला, आलसी, शीतल, स्निग्ध, मीठे पदार्थ और मेद्य तथा द्रवान्न पान सेवन करने वाला मनुष्य प्रमेह पीड़ित होगा ऐसा जान लेना चाहिए। चरक में कुछ और अधिक वर्णन मिलता है जो इस प्रकार है।—

"यश्च कश्चिद्विधिरन्योऽपि श्लेष्ममेदोमूत्र संजननः सर्वः स निदान विशेषः। बहुद्रवश्लेष्मा दोष विशेषः।" [चरक निदान]

अर्थात् इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी प्रकार जो श्लेष्मा, मेद और मूत्र को पैदा करने वाले हों वे सब प्रमेह के कारण हैं। और भी कहा है—

"आस्यासुखं स्वप्न सुखं दधीनि ग्राम्यौदकानूपरसाः पयांसि।
नवान्नपानं गुडवैकृतं च प्रमेहहेतुः कफकृच्च सर्वम्॥" [चरक चिकित्सा]

सम्प्राप्ति—उपरोक्त आहार विहार में प्रवृत्त मनुष्य के आम, वात, पित्त और कफ जल मेद के साथ मिलकर मूत्रवाही स्थानों में से नीचे की ओर गमन कर वस्ति मुख का आश्रय कर बाहर निकलने लगते हैं तब प्रमेह उत्पन्न करते हैं। प्रमेह में कुपित दोष वात, पित्त, कफ, ये, मेद, मांस, शरीरज क्लेद, शुक्र, शोणित, वसा, मज्जा, लसिका, रस और ओज को दूषित करते हैं।

वक्तव्य—प्रमेह में प्रधानतः वृक्क विकृत होता है। इसका कार्य सदा रक्तवाहिनियों से दूषित जलीयांश को पृथक् करना है। यह पृथक् भाग गविनियों (Ureters) द्वारा वस्ति में

वहां से मूत्र नलिका (Urethra) द्वारा बाहर निकल जाता है। आयुर्वेद में वृक्क को नाभिशिर भी कहते हैं।

अर्वाचीन विज्ञान के अनुसार वृक्क अपनी प्रकृत अवस्था में रक्त से जल यांश को तथा दूषित पदार्थों को खींच लेता है। त्वचा और वृक्क का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। त्वचा द्वारा अधिक पसीना आने पर मूत्र की मात्रा कम हो जाती है। वृक्क में मूत्र निर्माण के लिये तीन प्रधान अंग हैं।—

(१) गुच्छ (Glomeruli).

(२) शोषक नलिका (Absorbing tubules).

(३) संचालक नलिकाएं (Collecting tubules).

गुच्छों के द्वारा रक्त में से किट्ट भाग पृथक् होकर संचित होता है। इसमें से बहुत सा भाग जो उपयोगी होता है पुनः शोषित हो जाता है। उपयोगी पदार्थों को पुनः संचय करने वाली इस शक्ति का नाम Renal threshold है। इस शक्ति की क्षीणता में पोषक पदार्थ शर्करा आदि मूत्र द्वारा फिर निकलने लगते हैं इस क्षीणता का कारण अनुचित आहार विहार से उत्पन्न यकृदादि का विकार है। यकृत् जिस मल को रक्त में उत्पन्न करता है वृक्क उसे बाहर निकालता है अतः यकृद्विकृति में प्रायः वृक्क भी विकृत हो जाता है।

पूर्वरूप—तेषां तु पूर्वरूपाणि—हस्तपादतलदाहः स्निग्धपिच्छिल-गुरुता गात्राणां मधुरशुक्ल मूत्रता तन्द्रा सादः पिपासा दुर्गन्धश्च श्वासस्तालु-गलजिह्वादन्तेषु मलोत्पत्तिर्जटिलीभावः केशानां वृद्धिश्च नखानाम् ॥"

[सुश्रुत निदान]

अर्थात् उनके पूर्वरूप में—हाथ और पैरों में जलन, अङ्गों में स्निग्धता, पिच्छिलता और भारीपन, मूत्र में माधुर्य और श्वैत्य;

तन्द्रा थकावट, प्यास, (शरीर पर) दुर्गन्ध, हांपना, तालु, गला, जीभ और दांतों पर मैल की उत्पत्ति, केशों का परस्पर चिपट जाना और नखों की वृद्धि होती है।

वक्तव्य—कोई विकार (आगन्तुक को छोड़कर) अकस्मात् उत्पन्न नहीं होता। कोई भी विकार व्यक्त होने के पहले शरीर के अन्दर नानाविध अप्राकृतिक (Abonormal) क्रियाएं होती हैं। रोग उत्पन्न होने के पहले शरीर के अन्दर रोगोत्पादक पदार्थों के सेवन से (मिथ्याहार विहार से) दोषों का संचय होता है इसके बाद प्रतीकार के अभाव में इनका प्रसार होता है। प्रमेह में भी प्रकुपित वात, पित्त, कफ मेदो धातु से मिलकर शरीर में फैलते हैं। इस रोग में त्रिदोष कुपित होने पर भी कफ प्रबल रहता है, और यह ही सबसे शीघ्र कुपित होता है। बाद में पित्त और वात भी प्रकुपित होते हैं। इस प्रकार प्रकुपित श्लेष्मा शरीर के शिथिल तथा मांस और मेद के अधिक रहने के कारण शरीर में फैलने लगता है।

चरक के अनुसार प्रमेह के पूर्वरूप निम्न हैं—

"स्वेदोऽङ्गगन्धः शिथिलाङ्गता तु शय्यासनस्वप्नसुखं रतिश्च।
हृन्नेत्रजिह्वाश्रवणोपदेहा घनाङ्गता केशनखाति वृद्धिः॥"
शीतप्रियत्व गलतालुशोषो माधुर्यमास्ये करपाददाहः।
भविष्यतो मेह गदस्य रूपं मूत्रेऽभिधावन्ति पिपीलिकाश्च॥"

कुछ विद्वान् प्रमेह का पूर्वरूप नहीं होता या अव्यक्त होता है ऐसा प्रतिपादन करते हैं। यथा—

"प्राग्रूपं नास्ति मेहानामन्यत्र मधुमेहिनः। दृश्यते चेत् क्वचित् किञ्चित् लिङ्गमव्यक्तमेव तत्॥" [गणनाथः]

इसकी टीका में वे स्वयं लिखते हैं—

"मेहानां पूर्वरूपं प्रायो न दृश्यते इति स्वानुभवमाह ॥"

सामान्य लक्षण—"तत्राविलप्रभूतलक्षणः सर्वएवप्रमेहाः।"

[सुश्रुत निदान]

आविल तथा प्रभूत मूत्र होने के कारण पहले कह आये हैं। किन्तु लक्षण से पूर्व प्रमेह के भेद देना अधिक आवश्यक है।

चरक, सुश्रुत और वाग्भट में वात, पित्त और कफ जन्य प्रमेहों की संख्या क्रमशः ४, ६ और १० ही है। किन्तु इनके नामों में यत्रतत्र भिन्नता दीख पड़ती है।

कफजन्य प्रमेह

कफज प्रमेह दश प्रकार के होते हैं। १. उदक मेह, २. इक्षुमेह, ३. सुरामेह या सान्द्रप्रसादमेह, ४. सिकतामेह, ५. शनैर्मेह, ६. लवणमेह, ७. सान्द्रमेह, ८. पिष्टमेह या शुक्लमेह, ९. शुक्रमेह, १०. फेनमेह।

चरक तथा वाग्भट के भिन्न नाम वाले—१. शीतमेह, २. आलालमेह या लालामेह।

उक्त बारह या दश मेहों में कुछ ऐसे हैं जिनमें बहुमूत्रता होती है, कुछ ऐसे हैं जिनमें आविल मूत्रता होती है। कुछ ऐसे भी हैं जिनमें ये दोनों लक्षण होते हैं।

उदक मेह—इसे लौकिक भाषा में बहुमूत्र भी कहते हैं। जिसमें मूत्र वर्ण और गुरुता (Specific gravity) में जल के समान होता है। सुश्रुत तथा चरक में इसका लक्षण निम्न-प्रकार से वर्णित है।

"तत्र श्वेतमवेदनमुदकसदृशमुदकमेही मेहति।" [सुश्रुत]

"अच्छं बहुसितं शीतं निर्गन्धमुदकोपमम्।

श्लेष्म कोपान्नरोमूत्रमुदमेही प्रमेहति ।।" [चरक]

यह स्थायी और अस्थाई के भेद से दो प्रकार का होता है। अस्थाई उदकमेह, जल, चाय, कॉफी, कोको तथा अन्य पेय और मूत्रल पदार्थों के सेवन से तथा हृच्छूल, अर्धावभेद, अपस्मार इत्यादि रोगों के आवेग के पश्चात् भीति तथा मानसिक आघात या उत्तेजना से होता है। स्थायी उदकमेह पुराने वृक्कशोथ (Chronic nephritis), धमनी दार्ढ्य (Arteriosclerosis), अधिक रक्तभार (High blood pressure) तथा ग्रन्थिक वृक्क (Cystic kidney) से और मस्तिष्कगत Pituitary gland की विकृति से होता है। अर्वाचीन विज्ञानवेत्ता Pituitary की विकृति से होने वाले प्रमेह को Diabetes Insipidus कहते हैं। इस बहुमूत्र का दूसरा नाम Polyurea भी है।

प्रधान लक्षण—(१) मूत्रकी मात्रा १० से २० पाइन्ट तक एक दिन में (६ से १० सेर तक) वर्ण, ईषत्पाण्डु जलवत्। आपेक्षिक घनत्व १००२ से १००५ तक। (२) मृदु अवस्था में केवल स्यामपमात्र लक्षण होते हैं, परन्तु बढ़ने पर मधुमेह के सारे लक्षण आ जाते हैं। यथा—त्वचा की रूक्षता, दौर्बल्य, बुभुक्षाधिक्य. कभी २ मलबन्धता और कभी २ विड्भेद, (३) अस्पष्ट वातविकार, मिज़ाज़ का चिड़चिड़ापन इसका सामान्य लक्षण है। अनिद्रा, कपाल के पिछले हिस्से में दर्द, स्नायुशूल, कटिशूल, प्रत्यावर्त्तन क्रिया की न्यूनता आदि लक्षण होते हैं।

भेदक लक्षण—इस विकार की पहली अवस्था में जीर्ण

केन्द्रस्थ वृक्कशोथ (Chronic Interstitial nephritis) का भ्रम होने की विशेष सम्भावना रहती है। परन्तु रोग की अधिक अवस्था में, मूत्र में Albumen की उपस्थिति, हृदय-विकार (Cardio-vascular symptoms) तथा प्यास की कमी और बुभुक्षाधिक्य इस भ्रम को दूर करने में विशेष सहायक होते हैं।—Amyloid kidney में Albumen आता है; Hydronephrosis और Cystic kidney में ग्रन्थि (Tumour) का स्पर्शोपलम्भ होता है। मधुमेह में शर्करा आती है।

साध्यासाध्य—आयुर्वेद में प्रमेह को कफज होने के कारण साध्य कहा गया है। परन्तु अर्वाचीन विज्ञान इसे याप्य मानता है।

चिकित्सा—पथ्य की सुव्यवस्था तथा निदान परिवर्तन इसकी प्रधान चिकित्सा है। अर्वाचीन चिकित्सक Pituitrine 1 c.c. का Injection देते हैं, जो (Antidiuresis) मूत्रानुत्पत्ति शक्ति को उत्पन्न करता है। यदि निदान से पता लगे कि Suppuration है तो तद्विरोध चिकित्सा करते हैं। सुश्रुत में इस विकार की शान्ति के लिये पारिजातकषाय पिलाने का उपदेश करते हैं।

"तत्रोदक मेहिनं पारिजातकषायं पाययेत्।"

बंग के विविधयोग इस विकार के प्रसिद्ध औषध हैं। बंगभस्म, स्वर्णबंग, त्रिबंग, बृहत् बंगेश्वर इत्यादि।

२. इक्षुमेह—इसमें मूत्र में शर्करा आती है। आयुर्वेद में इसके निम्न लक्षण मिलते हैं—

"इक्षुरसतुल्यमिक्षुमेही ।" [सुश्रुत]

"अत्यर्थमधुरं शीतमीषत् पिच्छिलमाविलम् । काण्डेक्षुरससंकाशं श्लेष्मकोपात्प्रमेहति ॥" [चरक]

आयुर्वेद में शर्करायुक्त प्रमेह वात और कफ से पृथक् २ कहे गए हैं। कफजन्य संतर्पण से और वातजन्य धातुक्षय से उत्पन्न होता है। यथा—

"दृष्ट्वा प्रमेहं मधुरं सपिच्छं मधूपमं स्याद्विविधो विचारः। क्षीणेषु दोषेष्वनिलात्मकः स्यात्संतर्पणाद्वा कफ सम्भवः स्यात् ॥" [चरक चि०]

इस संतर्पणजन्य कफज मेह को इक्षुमेह कहते हैं। अर्वाचीन चिकित्सक इसे Alimentary glycosuria कहते हैं। संतर्पण के अतिरिक्त शारीरिक और मानसिक श्रम से तथा मस्तिष्काघात से वृक्क की शर्करा-बन्धन-मर्यादा (Renal threshold) कम हो जाती है। इससे भी इक्षुमेह हो जाता है। वृक्क विकार के कारण उत्पन्न हुवे इक्षुमेह को अर्वाचीन चिकित्सक Renal glycosuria कहते हैं। चरक में इक्षुमेह के अतिरिक्त शीतमेह नामक दूसरा शर्करायुक्त प्रमेह वर्णित है, जिसके सम्बन्ध में आगे कहा जायेगा। Temporary glycosuria–यह Alimentary glycosuria का ही दूसरा नाम या रूप है। यह शर्कराजन्य पदार्थों (Carbohydrates) के परिपाक (Metabolism) में गड़बड़ी होने से हुआ करता है। बहुधा इसका कोई उपद्रव नहीं होता। (१) कभी २ शरीर में शर्करा सहिष्णुता की कुछ मन्द हो जाती है, विशेषकर किसी संक्रमण के कारण। (२) जीर्ण मदात्यय से भी यह अवस्था उत्पन्न हो जाती है। (३) गर्भावस्था के कारण भी हो

जाता है। (४) मानसिक विकार के कारण भी यह हो जाता है। (५) पथ्य की अव्यवस्था से, (६) गम्भीर आवेग, रोष, प्रभृति, (७) विसूचिका की अन्तिम अवस्था में, (८) रक्त-चापाधिक्य और Bright's disease में, (९) अग्न्याशय के (Pancreas) विकार में (१०) तीव्रज्वर के बाद, यथा-Influenza आदि (११) अपस्मार के वेग के बाद (Epileptic fits) (12) Renal glycosuria, (13) Lag glycosuria (रक्त के शर्करांश के वर्द्धन से)।

भेदक लक्षण—जब मूत्र में शर्करा की मात्रा अल्प हो और रक्त शर्करा प्राकृतरूप में हो तो समझो कि Renal glycosuria है। पथ्य में शर्कराजन्य पदार्थों का कमी होने पर भी जब मूत्र में शर्करा आना जारी रहे तो समझो कि वृक्क की शर्करा-बन्धन-मर्यादा मन्द पड़ गई है और यह Renal glycosuria है।

चिकित्सा—निदान परिवर्तन और पथ्य से शर्कराजन्य पदार्थों को निकाल दे। सुश्रुत ने इसके लिए, "वैजयन्ती कषाय" सेवन करने को कहा है। इसमें कटूफलादि घृत, तारकेश्वर रस, और हेमन्तकरस अच्छा कार्य करता है।

३—सुरामेह या सान्द्रप्रसादमेह—इसमें मूत्र ऊपर स्वच्छन्द और नीचे गाढ़ा होता है। इसका लक्षण ग्रन्थों में निम्नप्रकार वर्णित है:—

"यस्य संहंन्यते मूत्रं किञ्चित् किञ्चित् प्रसीदति।
सान्द्रप्रसादमेहीति तमाहुः श्लेष्मकोपतः॥" [चरक]

यदि सुरा का विचार गन्ध की दृष्टि से किया जाय तो इसे Acetonuria कह सकते हैं। परन्तु चरक, सुश्रुत और वाग्भट में कहीं भी गन्ध का उल्लेख नहीं मिलता। सुश्रुत टीका में हाराणचन्द्र चक्रवर्ती लिखते हैं कि—

"सुरातुल्यमित्यावृत्या गन्धनश्चैव।"

मूत्र में Acetone मधुमेह में मिलता है। अतः इसे उपरोक्त लक्षण के अनुसार Phosphaturia ही कहना उचित है। मूत्र में Phosphates दो समूहों में आते हैं। (१) क्षारीय, (Alkaline phosphates, salts of potassium, sodium and ammonium;) और (२) भौम, (Earthy phosphates, salts of calcium and magnesium.) प्रथम समूह बहुत घुलनशील होता है और दूसरा मूत्र की अम्लीयावस्था में नीचे तलछट के रूप में बैठ जाता है; खास कर जब मूत्र को गर्म किया जाय :

परीक्षा—क्षारीय या प्राकृत मूत्र में Earthy phosphates का धूसर (Cloudy) तलछट बैठ जाता है और गर्म करने पर वह और भी बढ़ता है। अम्ल (Acid) देने से तलछट नष्ट हो जाता है। यदि मूत्र क्षारीय है और उसमें पूय (Pus) का भ्रम दूर करना है तो उसमें Acetic acid देकर देखने से पता चल जायेगा कि पूय है या नहीं। प्रस्फुरित (Phosphates) Acetic acid के देने पर घुल जाते हैं। क्षारीय प्रस्फुरित कभी नीचे नहीं बैठता, केवल भौम प्रस्फुरित ही अम्लीय या उदासीन विलयन में अविलेय बन कर नीचे बैठ जाता है। स्वस्थावस्था में २ से ३ माशे तक प्रस्फुरित प्रतिदिन मूत्र में आते हैं। परन्तु

भिन्न २ भोजनों से इनकी मात्रा में भिन्नता होती रहती है।

दूसरी विधि—परीक्षा नली में कुछ मूत्र लेकर इसमें अर्ध-भाग नत्रिकाम्ल मिलादो। फिर एक दो बूँद Ammonium molybdate की डालो इसमें दोनों प्रकार के प्रस्फुरित अविलेय होकर नीचे बैठ जायेंगे।

रोग के कारण तथा लक्षण—इस में यह देखा गया है कि मनुष्य के मूत्र में Phosphates आते रहने पर भी अन्य कोई तकलीफ़ नहीं दीख पड़ती। परन्तु बहुधा इस विकार वाले मनुष्य को अजीर्ण की पुरानी शिकायत रहती है। सान्द्रप्रसाद मेह साधारणत: मस्तिष्क से अधिक कार्य करने वाले को होता है। पर अन्य क्षयजन्य विकार तथा चिन्ता आदि कारणों से भी यह होता है। अग्निमान्द्य भी इसके कारणों में से एक है।

साध्यासाध्य—यह सुखसाध्य है।

चिकित्सा—इसकी निदान प्रत्यनीक चिकित्सा होती है। साधारणत: इसमें दीपन, पाचन औषधों का व्यवहार तथा मूत्र को अम्ल बनाए रखना ही चिकित्सा है। एतदर्थ नरसार, कुचला के योग तथा किसी अम्ल पौष्टिक के देने से विशेष लाभ होता है। यथा-लवणाम्ल तथा प्रस्फुरिकाम्ल। मानसिक उद्वेग, चिन्ता आदि को कम करने की व्यवस्था परमावश्यक है। सुश्रुत इस विकार में "निम्ब कषाय" देने का उपदेश करते हैं—

"सुरा मेहिनं निम्बकषाय:"।

इस विकार में पाशुपत रस, अग्नितुण्डी वटी तथा चन्द्र-प्रभा वटी अच्छा लाभ करती है।

४—सिकता मेह— इसमें मूत्र त्यागते समय पथरी के छोटे २

कण निकलते हैं। अर्वाचीन चिकित्सक इसे Passing of gravels in Urine कहते हैं संहिताओं में इसके निम्न लक्षण मिलते हैं।—

"मूर्तान्मूत्रगतान्दोषानणून्मेहति यो नरः।
सिकतामेहिनं विद्यान्नरन्तं श्लेष्मकोपतः॥" [चरक]

"सरुजं सिकतानुविधं सिकतामेही।" [सुश्रुत]

५—शनैर्मेह—यह प्रमेह सिकता से मूत्रमार्ग अवरुद्ध होने के कारण होता है। यथा—

"मूत्रेण युक्तः सिकता प्रमेहः स्यन्दनेन मूत्रेण शनैः प्रमेहः।"; "मन्दं-मन्दमवेगन्तु कृच्छ्रं यो मूत्रयेच्छनैः। शनैर्मेहिनमाहुस्तं पुरुषं श्लेष्म-कोपतः॥" [चरक]

वक्तव्य—उक्त दोनों मेह एक ही के अवस्था भेद हैं। मूत्र के अन्दर जब पथरी के छोटे २ कण सरुज या निरुज निकलते रहते हैं, किसी प्रकार की मूत्रोत्सर्जन में रुकावट नहीं होती तो उसे सिकता-मेह कहते हैं। ये कण जब इकट्ठे हो मूत्राशय के मुख को ढक लेते हैं तो मूत्र का वेग रुक २ कर शनैः शनैः आने लगता है, जिसे शनैर्मेही कहते हैं। अर्वाचीन अन्वेषण के अनुसार कण (Crystals) नाना प्रकार के होते हैं जो संक्षेप रूप से इस प्रकार है।—(१) Crystals of calcium oxalate, (२) Calcium carbonate, (३) Urates, (४) अन्य organic nuclei जिनसे पथरी बनती है। उक्त दोनों प्रकार के प्रमेहों का वर्णन Renal calculus से मिलता जुलता है। Renal calculus में भी पथरी के छोटे २ कण मूत्रमार्ग

से निकलते रहते हैं। इस विकार में पीड़ा वंक्षण प्रदेश से आरम्भ हो मुष्क, भग तथा उदर की ओर जाती प्रतीत होती है। इस अवस्था में मुष्क सिकुड़े हुवे प्रतीत होते हैं और बार २ मूत्रोत्सर्ग की प्रवृत्ति होती है। साथ ही वमन, कम्प, स्वेद, पाण्डुता आदि लक्षण दीख पड़ते हैं। जब रुकावट अत्यधिक होती है तो कभी २ रक्त भी मूत्रमार्ग से निकलने लगता है। मूत्र में रक्त तथा Pus cells भी कभी २ निकलते हैं परन्तु Cast नहीं होता। मूत्रपरीक्षण में Crystals मिलते हैं जिससे पता चलता है कि पथरी बन रही है। प्रधानतः इसमें Oxalate calculus होता है।

चिकित्सा—प्रथम चिकित्सा वेदना की शान्ति करना है और अन्य उपद्रव वमनादि को दूर करना। सुश्रुत ने इसकी चिकित्सा में चित्रक और खदिर का कषाय पीने को बताया है।

"सिकतामेहिनं चित्रक कषायं, शनैर्मेहिनं खदिर कषायम्।" [सुश्रुत]

कभी २ तीव्र वेदना की शान्ति के लिये Morphia का Injection भी देना पड़ता है। शिलाजतु तथा पाषाण भेदादि योगों का व्यवहार इसमें करते हैं। पथ्य की सुव्यवस्था करना परमावश्यक है। ऐसे पदार्थों का सेवन जिससे सिकता कण (Oxalates) बनते हों नहीं करना चाहिए। रेवन्द चीनी, टमाटर, गोभी, प्याज, मिष्ठान्न और सुरा का सेवन नहीं करना चाहिए। मूत्र को Acid sodium phosphate और नरसार आदि पदार्थों के योग से अम्ल बनाये रखना चाहिए जिससे Crystals सदा घुलते रहें और मूत्र से निकल जायें। इसमें सर्वतोभद्र वटी अच्छा कार्य करती है।

६–लवणमेह—इस में मूत्र लवणाम्बुनिभ होता है। आयुर्वेद में इसका लक्षण निम्न प्रकार से है—

"विशदं लवणतुल्यं लवणमेही।" [सुश्रुत]

चिकित्सा—"लवणमेहिनं पाठाऽगरु कषायम्।" [सुश्रुत]

अर्थात् लवणमेही को पाठा और अगरु का कषाय पिलावें।

७–पिष्टमेह–या शुक्लमेह—इसमें मूत्र पिष्ट-मिश्रोदक तुल्य होता है। हृष्टरोमत्व पिष्टमिश्रोदक देखने का मानसिक प्रभाव प्रतीत होता है। इसके लक्षण पहले कह आये हैं। इस प्रकार सफेद मूत्र Albumen, Pus या Chyle की उपस्थिति से होता है। मूत्र में Chyle (अन्नरस) श्लीपद के कृमियों के कारण आता है। ये कृमि आन्त्रस्थ रक्तवाहिनियों में अवस्थान करके रस प्रवाह को अवरुद्ध कर देते हैं। इस अवरोध के कारण जब मूत्र-वह संस्थान की रसवाहिनियां फूटती हैं तब रस मूत्र के साथ बाहर निकलने लगता है। इसे अर्वाचीन चिकित्सक Chyluria कहते हैं।

साध्यासाध्य—यह रोग साध्य है। रोगी इस रोग के साथ बीसों वर्ष तक बिना किसी कष्ट विशेष के रह सकता है। इससे कभी २ मन में अवसाद हुआ करता है।

चिकित्सा—इस रोग की बाढ़ को रोकने के लिये उबले हुये जल का सेवन करना चाहिये। पूर्ण रूप से क्षति की पूर्ति के लिये सुपच और पौष्टिक आहार का सेवन करना चाहिये। हरिद्रा, दारुहरिद्रा का काथ इसमें अच्छा लाभ करता है।

"पिष्टमेहिनं दारुहरिद्राकषायम्।" [सुश्रुत]

इसमें नित्यानन्द रस, विषमुष्टि वटी तथा शिलाजत्वादि वटी का सेवन करावे। चन्दनासव, अश्वगन्धारिष्ट खाने के बाद पीने को देवे।

८—सान्द्रमेह—इसमें मूत्र थोड़ा देर रखने के बाद गाढ़ा हो जाता है।

यस्य पर्युषितं मूत्रं सान्द्रीभवति भाजने।
पुरुषं कफकोपेन तमाहुः सान्द्रमेहिनम्॥" [चरक]

मूत्र में Fibrin या पूय (Pus) की उपस्थिति से वह गाढ़ा हो जाता है। इसके वर्ण का निर्देश न होने से दोनों में से एक का निर्णय करना कठिन है। पूययुक्त मूत्र का वर्ण श्वेत होता है और Fibrin युक्त मूत्र का वर्ण किञ्चित् रक्ताभ होता है।

चिकित्सा—"सान्द्रमेहिनं सप्तपर्ण कषायम्।" [सुश्रुत]

अर्थात् सान्द्रमेही को सप्तपर्ण का कषाय पिलावे। इसमें मञ्जिष्ठाद्यर्क, सारिवाद्यारिष्ट, चन्दनासव, बब्बुलाद्यारिष्ट आदि औषधें लाभ करती हैं। जिन कारणों से मूत्र में Fibrin तथा पूय आते हों उनको दूर करने की चेष्टा करनी चाहिये। मूत्र में पूय आने के अनेक कारण हैं जो आगे मिलेंगे। गोक्षुरादि फाण्ट तथा तृणपञ्चमूल काथ से भी लाभ होता है।

९—शुक्रमेह— इसमें मूत्र शुक्राभ और शुक्रमिश्र आता है।

"शुक्राभं शुक्रमिश्रं वा शुक्रमेही प्रमेहति।" [चरक]

शुक्राभ मूत्र की तुलना Albuminuria से कर सकते हैं। शुक्रमिश्र मूत्र को Spermatorrhoea कहते हैं। मूल में

Albumen आने के अनेक कारण होते हैं जिनमें प्रधानतः वृक्क के विविध विकार, विविध पाण्डु रोग, यकृद्दाल्युदर, हृद्विकार, मदात्यय, सगर्भावस्था इत्यादि हैं। शुक्रमेह मानसिक विकार का प्रतिफल है। मन के अन्दर कामुक भावनाओं के होते रहने से जननेन्द्रियों को अनावश्यक उत्तेजना होती रहती है और अर्ध-निर्मित शुक्र मूत्र मार्ग से मूत्र-विसर्जन काल में तथा ऐसे भी निकलता रहता है। Neurasthenia के कारण भी यह विकार हो जाता है। "All kinds of disturbances in the sexual sphere occur and may dominate the clinical picture. Sexual impotency, premature ejaculation, spermatorrhoea, all occur in men." (Savill).

चिकित्सा—"शुक्र मेहिनं दूर्वा-शैवल-प्लव-हठ-करंज-कसेरुक कषायं कुंकुम चन्दन कषायं वा।" [सुश्रुत]

अर्थात् शुक्रमेही को उक्त औषधों का कषाय पिलावें। उसमें ऐसे औषधों को देना चाहिए जिससे मलशुद्धि होती रहे और पौष्टिक भी हों। मलशुद्धि के लिए त्रिवृत त्रिफला आदि का योग, धान्यकादि लेह, सेवती पाक का व्यवहार करें। पुष्टि के लिए शुक्रमातृका वटी, पूर्णचन्द्र रस, गोक्षुर वटी आदि का सेवन करावे। उत्तेजक पदार्थों का सेवन न करावे। भोजन में मिर्च, खटाई, तेल न दें।

फेनमेह— इसमें मूत्र झागदार होता है। अर्वाचीन चिकित्सक इसे Pneumaturia कहते हैं। वस्ति का सम्बन्ध स्थूलांत्र मलाशय के साथ होने से अथवा वस्ति में Bacillus colli-

coneunnis या yeast नामक जीवाणु के प्रवेश से मूत्र में वायु उत्पन्न हो झाग पैदा कर देता है। कामला में भी मूत्र अधिक झागदार होता है और झाग देर तक रहता है।

चिकित्सा—"फेनमेहिनं त्रिफलाऽऽरग्वधमृद्वीकाकषायं मधुरं, कफजे तु मधु मधुरमिति।" [सुश्रुत]

अर्थात् फेनमेही को उक्त कषाय मधु से मधुर करके देवे। इसमें कफज होने पर भी अपेक्षाकृत वायु अधिक होता है जिससे झाग की उत्पत्ति होती है अतः वात कफहर औषध का विधान करना चाहिए।

११–शीतमेह – उक्त दश मेहों के अतिरिक्त चरक में इसका पाठ मिलता है जो निम्नप्रकार है।—

"अत्यर्थशीतमधुरं मूत्रं मेहति यो भृशम्।
शीतमेहिनमाहुस्तं पुरुषं श्लेष्म कोपतः॥" [चरक]

यह इक्षुमेह का ही भेद प्रतीत होता है। इसके लक्षण Renal glycosuria से मिलते हैं जिनका वर्णन पहले हो चुका है। चिकित्सा भी उसी के अनुसार करनी चाहिए।

१२–आलाल मेही या लालामेही—"तन्तुबद्धमिवालालं पिच्छिलं यः प्रमेहति। आलालमेहिनं विद्यात् तं नरं श्लेष्म कोपतः॥"

इसके लक्षण Albuminuria से मिलते हैं। इस रोगी के मूत्र में Albumen रहता है मूत्र में Albumen रक्त सीरम से ही आता है। रक्त में दो प्रकार की प्रोटीनें आती हैं—(१) सीरम अल्बुमिन और (२) सीरम ग्लोब्युलीन। परन्तु सुविधार्थ दोनों को एक ही नाम से पुकारते हैं।

कारण—(१) स्वस्थावस्था में कभी २ अज्ञात् कारणों से भी Albumen आने लगता है। यह प्रायः युवावस्था में, विशेष कर दुर्बल, आलसी, तथा मूर्छादि से पीड़ितों में होता है। (२) ज्वर-कभी २ किसी २ ज्वर में भी Albumen आने लगता है। (३) वृक्कों में रक्त संचय। (४) विष प्रभाव-गर्भ-विष या अन्य विषादि के प्रभाव से। उपर्युक्त कारणों से उत्पन्न लालामेह में वृक्क के व्यापारिक रोग होते हैं ऐन्द्रियक नहीं। (५) वृक्क शोथादि रोगों के कारण हर समय मूल में Albumen आता रहता है।

चिकित्सा—मूत्रल शोथहर औषधों का व्यवहार करना चाहिए। पथ्य में लवण वर्जित पदार्थ दें। गोक्षुर, पुनर्नवा, स्वर्जी, यवक्षार, शिलाजतु, लोह, मण्डूर, शङ्ख, शुक्ति तथा प्रवाल आदि का योग दें। चन्द्रप्रभावटी, पुनर्नवा मण्डूर, पुनर्नवासव, चन्दनादि लोह, आदि का प्रयोग करें।

नोट:—कफजन्य प्रमेहों में दोष, कफ होता है और दूष्य मेद प्रभृति होते हैं। कफ के लिए जो रूक्ष तीक्ष्ण कटु प्रभृति क्रिया अनुकूल होती है वही क्रिया मेद के लिए भी अनुकुल होती है, यानि दोष और दूष्य की चिकित्सा में विरुद्धोपक्रम नहीं होता। अतः चिकित्सा का दोनों के ऊपर योग्य उपयोग होने से कफज प्रमेह साध्य होते हैं। साध्यता मे व्याधि महिमा भी कुछ सहायता देती हैं:—

"ज्वरे तुल्यर्तु दोषत्वं प्रमेहे तुल्य दूष्यता।
रक्त गुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यत्व हेतवः॥" [सुश्रुत]

पित्तज प्रमेह

पित्तज प्रमेह ६ हैं जो निम्न प्रकार हैं:—(१) नीलमेह, (२) हारिद्रमेह, (३) अम्लमेह, (४) क्षारमेह, (५) मञ्जिष्ठमेह, और (६) रक्तमेह। चरक ने अम्ल के स्थान पर दूसरा एक कालमेह का उल्लेख किया है।

१—नीलमेह—(Indicanurea) इसमें (Indicane) नामक पदार्थ रहता है। आन्त्र में या आन्त्रेतर शरीर के अन्य हिस्सों में (Albumen) के सड़ने से यह पदार्थ उत्पन्न होता है, और मूत्र में आने लगता है। इसका लक्षण शास्त्रों में निम्न प्रकार मिलता है:—

"चासपक्ष निभं मूत्रं मन्दं मेहति यो नरः।
पित्तस्य परिकोपेण तं विद्यान्नीलमेहिनम्॥" [चरक]

यह विकार पुराना मलबन्ध, आन्त्रावरोध, अतिसार, प्रवाहिका, आन्त्रशोथ, फुफ्फुसशोथ, दुर्गन्धित कास, राजयक्ष्मा की तृतीयावस्था इत्यादि के कारण हुआ करता है। नीलमेह में त्यागते समय मूत्र का वर्ण प्रकृत और थोड़ी देर बाद नील हो जाता है।

चिकित्सा—जिन कारणों से हो उन्हें दूर करना। और शालसारादि कषाय या अश्वत्थ कषाय पिलावे।

"नील मेहिनं शालसारादि कषायं अश्वत्थ कषायं वा पाययेत्।"

२—हारिद्रमेह—इसमें मूत्र का वर्ण "हारिद्रोदक संकाश" हो जाता है। इस प्रकार का गाढ़ा पीत वर्ण मूत्र में पित्त का Bilirubin नामक रंग पदार्थ के उपस्थिति से होता है। यह

प्रमेह कामला में दिखाई देता है। इस के अतिरिक्त मूत्र का स्वाभाविक रंग द्रव्य जो Urobilin है, उसके अधिक राशि में उपस्थित रहने से भी मूत्र पीतवर्ण हो जाता है। इस प्रमेह को Urobilonuria कहते हैं। यह प्रमेह दुष्ट पाण्डु रोग, विषमज्वर, यकृद्दाल्युदर, इत्यादि रक्तनाशक रोगों उत्पन्न होता है।

चिकित्सा—कारण की चिकित्सा।

"हारिद्र मेहिनं राजवृक्ष कषायं।" [सुश्रुत]

इस में रक्तवर्धक, रक्तशोधक, मूत्रल तथा यकृद् के कार्य को ठीक करने वाली पित्त प्रशामक औषधों का सेवन करना चाहिए। लौह, प्रवाल, मण्डूर, माक्षिक धातु, कालमेघ, सप्तपर्ण, आदि का व्यवहार करना चाहिए। कुमार्यासव, विषमज्वरान्तक लौह, नवायस लौह, चन्दनादि लौह, महामञ्जिष्ठाद्यर्क आदि का उपयोग करना चाहिए।

३—अम्लमेह—मूत्र में Uric acid तथा Urates अधिक मात्रा में उपस्थित रहते हैं। इसे अर्वाचीन चिकित्सक Highly acid urine और Lithuria कहते हैं। यह प्रमेह आमवात या वातरक्त, Gout तथा गरिष्ठ अन्न के अधिक सेवन से, व्यायामाभाव इत्यादि से होता है। इसके लक्षण संहिताओं में निम्न प्रकार है।—

"अम्लरस गन्धं अम्लमेही" [सुश्रुत]

चिकित्सा—"अम्लमेहिनं न्यग्रोधादिकषायं मधुमिश्रं।" [सुश्रुत]

इसमें गुग्गुलु के योगों का प्रयोग कराना चाहिए। पञ्च-

तिक्त घृतगुग्गुलु, सिंहनाद गुग्गुलु, इत्यादि । सारिवाद्यारिष्ट, और वातरक्तान्तक योगों का उपयोग करना चाहिए।

४—क्षारमेह—"गन्धवर्ण रसस्पर्शैः क्षारेण क्षारतोयवत्।" [चरक]

इसे अर्वाचीन चिकित्सक Alkalauuria कहते हैं। वस्ति में अधिक देर तक मूत्र के रुके रहने से, Prostate gland के वृद्धि के कारण, या मूत्र मार्ग संकोच से, फॉस्फेट की अधिकता से, या नीचे के वस्तिशोथ से, मूत्र क्षारीय हो जाता है।

चिकित्सा—"क्षारमेहिनं त्रिफला कषायम्।" [सुश्रुत]

इसमें क्षार को उदासीन करने की दवा करनी चाहिए। अम्ल (Acid) लवणाम्लक आदि का प्रयोग करना चाहिए। अभयारिष्ट, जम्बीर द्रव आदि का प्रयोग करना चाहिए।

५—(६)—माञ्जिष्ठमेह और रक्तमेह—ये प्रमेह मूत्र में रक्त की उपस्थिति से होते हैं। अधाग रक्तपित्त (मूत्र मार्ग के) में भी हारिद्र वर्ण और रक्त वर्ण का मूत्र आता है परन्तु इसमें प्रमेह के अन्य लक्षण नहीं होते। देखो चरक चिकित्सा-

"हरिद्रवर्णं रुधिरं च मूत्रं विना प्रमेहस्य हि पूर्व रूपैः।
यो मूत्रयेत्तन्न वदेत् प्रमेहं रक्तस्य पित्तस्य हि स प्रकोपः॥"

यह रक्त जब केवल रंग द्रव्य के रूप में उपस्थित होता है तब उस प्रमेह को माञ्जिष्ठमेह या Haemoglobumuria कहते हैं। इसमें मूत्र में रक्त कण नहीं होता। जब पूर्ण रक्त मूत्र में उपस्थित होता है तब उसे रक्त मेह या Haematuria कहते हैं। इस में मूत्र में रक्त कण उपस्थित होता है। Microscope से इनके तलछट की परीक्षा किए बिना इनका पार्थक्य नहीं प्रगट होता। ये दोनों प्रमेह वृक्कार्बुद, वृक्काश्मरी, वस्तिका-

र्बुद, विषमज्वर, पीतज्वर (Yellow fever) शोणित मेहज्वर, (Black water fever) हिमोफिलिया- पर्प्युरा, स्कर्वि इत्यादि रक्त विकारों में होते हैं।

चिकित्सा—कारण की चिकित्सा करनी चाहिये।

"माञ्जिष्ठमेहिनं मञ्जिष्ठाचन्दनकषायं, शोणितमेहिनं गुडूची-

तिन्दुकास्थिकाश्मर्य्यखर्ज्जूरकषायं मधुमिश्रम्॥" [सुश्रुत]

कालमेही—इसमें मूत्र मसीवर्ण अर्थात् स्याही के रंग का होता है। मूत्र का कृष्ण वर्ण निम्न कारणों से हुआ करता है।—

(१) जीर्ण कामला में-Biliverdin नामक रंग द्रव्य के आधिक्य से। (२) मूत्र में रक्त को तथा रक्त कण की उपस्थिति। (३) Indicane और Indole के उच्च श्रेणी के अपद्रव्य की अधिक राशि में उपस्थिति। (४) मूत्र में Melanin नामक रंग की उपस्थिति से, इसे Melanuria कहते हैं। इस का कारण शरीर में Metanotic sarcoma नामक घातक अर्बुद है। (५) मूत्र में Haemogentisinic acid की उपस्थिति से, इसको Alkaptonuria कहते हैं। यह सहज प्रमेह है। रोगी को आजीवन रहता है। परन्तु इससे कोई विशेष कष्ट नहीं होता। (६) Carbolic acid का विशेष उपयोग। (७) Salol, Salicylate, Gallic acid इत्यादि के सेवन से।

चिकित्सा—निदान प्रत्यनीक चिकित्सा।

नोट—पित्त और मेद की चिकित्सा में वैषम्य या विरोध होने के कारण पित्तज प्रमेह याप्य होता है "विषम क्रियात्वात्" पित्त प्रमेह में मधुरादि पित्तहर द्रव्यों का प्रयोग करने से मेदादि-दूष्य बढ़ जाता है और कटु आदि मेदहर द्रव्यों के उपयोग से

पित्त और प्रकुपित होता है। इस प्रकार विरुद्धोपक्रम के कारण याप्य है।

वातज प्रमेह

वातज प्रमेह चार हैं, जो निम्न प्रकार हैं।

१. सर्पिमेह, २ वसामेह, ३ क्षौद्रमेह, और ४ हस्तिमेह !

१,२—सर्पिमेह और वसामेह—इन दोनों में मूत्र में पूय (Pus) अल्ब्युमेन या चर्बी (Fat) की उपस्थिति होता है। जिसमें पूय (Pus) उपस्थित होता है उसे Pyurea कहते हैं। मूत्र में पूय, वृक्कविद्रधि, गविनी मुखशोथ (Pyelitis) वस्तिशोथ, पूयमेह, मूत्र संस्थान की राजयक्ष्मा इत्यादि विकारों से होता है। यदि वसा का योगार्थ लिया जाय तो वसामेह को Lipurea कह सकते हैं। वसामेह चर्बीयुक्त पदार्थों के अधिक सेवन से, मधुमेह से, वृक्क के चिरकालीन शोथ में और पूयमय वृक्क से होता है। Chylureaमें भी मूत्र में वसा आती है। इनके लक्षण शास्त्रों में निम्न प्रकार मिलते हैं:—

"वसामिश्रं वसाभं च मुहुर्मेहति यो नरः।
वसामेहिनमाहुस्तमसाध्यो वातकोपतः॥" [चरक]
"सर्पिप्रकाशं सर्पिमेही।" [सुश्रुत]

चरक में सर्पिमेह के स्थान पर मज्जामेह मिलता है जिस का लक्षण यह है—

"मज्जानं सह मूत्रेण मुहुर्मेहति यो नरः।
मज्जमेहिनमाहुस्तमसाध्यं वातकोपतः॥" [चरक]

चिकित्सा—"सर्पिमेहिनं कुष्ठकुटजपाठाहिंगुकटुरोहणीकषायं गुडूचीचित्रककषायेण पाययेत्।"

"वसा मेहिनं अग्निमन्थकषायं शिंशिपाकषायं वा।" [सुश्रुत]

इसके अतिरिक्त इन दोनों प्रकार के प्रमेहों में पथ्य में वसा उत्पन्न करने वाले पदार्थों का सेवन न करावे। और कारण की चिकित्सा करें।

३—क्षौद्रमेह या मधुमेह—Diabetes mellitus—इस में मूत्र के अन्दर 'मधुर स्वभाव ओजः' उपस्थित रहता है। आधुनिक वैज्ञानिक इसे Glucose कहते हैं। यह एक प्रकार की शर्करा है जो और शर्कराओं के साथ मधु में वर्तमान रहता है इसीलिये इसे मधुमेह भी कहते हैं। इसकी उपस्थिति में यद्यपि मूत्र मधु के समान नहीं होता, फिर भी कुछ गाढ़ा हो ही जाता है जिससे मूत्र का आपेक्षिक घनत्व बढ़ जाता है। मूत्र में मधु की उपस्थिति होने के अनेक कारण हैं जिनके ज्ञान के लिए शरीर में शर्करा तथा अन्य पिष्टमय पदार्थों का उपयोग कैसे होता है, यह जानकारी होना परमावश्यक है। स्थानाभाव से यहां उसे नहीं दिया जाता। मूत्र में शर्करा प्रधानतः निम्न कारणों से आती है।

(१) वृक्क का विकार अर्थात् वृक्क की शर्करा-बंधन मर्यादा की कमी। यह प्रमाण साधारणतः १.८ प्र. श. तक होता है।
(२) शालिपिष्टमय पदार्थों (शर्कराजन्य Carbohydrates) का अत्यशन।
(३) मस्तिष्क और मानसिक विकार, क्रोध, शोक, भय, चिन्ता, मस्तिष्क विद्रधि, अर्बुद, रक्तश्राव, शोथ इत्यादि।
(४) अंतःस्रावी ग्रंथियों के विकार—अग्न्याशय (Pancreas) चुल्लिकाग्रंथि (Thyroid gland) उपवृक्क ग्रंथि

Suprarenal gland), पिट्युटरी ग्रंथि ।

मधुमेहनिरुक्ति—"मधुवन्मधुरं मूत्रं यः प्रायो भूरि मेहति ।
मधुमेहीति तं विद्यात् तृष्णादाहक्लमान्वितः ॥" (गणनाथः)

सम्प्राप्तिः—"भूयिष्टं मधुरं युक्तं विपाकान्मधुरोत्तरम् ।
रक्तं संजनयेत् सोऽसौ रक्तमाश्रित्य सञ्चरन् ॥
परिणामं न लभते सम्यग् धात्वग्निवैकृतात् ।
माधुर्यं तेन रक्तादेस्ततो मधुर-मूत्रता ॥"
अथ धात्वग्निविकृतिर्यथा स्यात्तत् प्रवर्ण्यते ।
अग्न्याशयोद्गतः सूक्ष्मो रसोऽन्तः स्रवणस्तु यः ॥
रसस्य परिणामाय मधुरस्य प्रभाववान् ।
स रक्ते सञ्चरन् नित्यं धात्वग्नेर्बलमावहेत् ॥
यदा त्वग्न्याशयांशस्य विकृतेः स प्रहीयते ।
तदा स्याद् रक्तमाधुर्यं मूत्रमाधुर्यमेव च ॥
अथ स्वाभावाद् यकृतो या शक्तिः परिणामकृत् ।
मधुराणां विशेषेण सञ्चयाय व्ययाय च ॥
साप्यत्र हीयते कालेऽव्यायामाद् भूरिभोजनात् ।
तेनापि रक्तमाधुर्यं विशेषाद् भवति ध्रुवम् ॥
इति नव्यमतं प्रोक्तं प्रत्यक्षज्ञानमूलकम् ॥" [गणनाथ]

प्राचीन मतम्—"त्यक्तव्यायामचिन्तानां संशोधनमकुर्वताम् ।
श्लेष्मा पित्तं च मेदश्च मांसश्चाति प्रवर्धते ॥"
तैरावृतगतिर्वायुरोजः आदाय गच्छति ।
यदा वस्तिं तथा कृच्छ्रो मधुमेहः प्रवर्त्तते ॥
स मारुतस्य पित्तस्य कफस्य च मुहुर्मुहुः ।
दर्शयत्याकृतिं गत्वा क्षयमाप्यायते पुनः ॥"

मधुमेह के भेद—यह दो प्रकार के मनुष्यों को होता है-

एक स्थूल पुरुष को और दूसरा कृश को। स्थूल और प्रौढ़ पुरुष जिनकी अवस्था ३० से ऊपर है और जो बली हैं उनका मधुमेह चिरकालीन होता है। कृश पुरुष का, बाल और तरुण अवस्था वाले पुरुष का, या जो दुर्बल हैं उनका मधुमेह अति कष्टप्रद और शीघ्रकारी होता है।

प्रधान लक्षण—

"तृष्णा तीव्रा त्वचो रौक्ष्यं क्लमो दौर्बल्यमेव च।
विड्बन्धः कृशता वृद्धिर्मधुरप्राज्यमूत्रता॥
जिह्वादिषु मलाधिक्यं दाहश्च करपादयोः।
मधुमेहस्य लिंगानि भस्मकाग्निश्च कुत्रचित्॥"

मेदस्वी पुरुषों के ये लक्षण पहले छिपे रहते हैं पुनः अत्यायामादि से शनैः२ वृद्धि बढ़ कर पिपासा कृशता आदि लक्षण दीख पड़ते हैं। यदि कोई फोड़ा (पिडिका) आदि के होने पर वह शीघ्र अच्छा नहीं होता मूत्र परीक्षा से पता चलता है कि उसे मधुमेह है।

मधुमेह के उपद्रव—

"मधुमेहोपेक्षया च काले भवन्त्यमी।
उपद्रवाः कृच्छ्रसाध्याः केचित् प्राणान्तिकाऽपि च॥
कासः श्वासः ज्वरो रुन्द्रः शीघ्रकारीक्षयस्तथा।
पिडिका मांसकोथश्च प्रमेहो वा कदाचन॥
शाखागतासु नाडीषु क्वचित्स्त्रस्रुजोद्गमः।
क्लैव्यं च प्रायशः काले तस्य धातुक्षयाद्भवेत्॥
दृष्टिनाडी वितानस्य प्रशोथाच्छोषतोऽथवा।
तदन्तर्वीसृजः शाखाद् दृष्टिदोषोऽन्धताऽपि च॥

अथास्य वृक्करोगश्च यकृद्रोगश्च कुत्रचित्।
हृत्पेशीदुर्बलत्वं च तीव्रं शोथोदरादिकृत् ॥
सपेऽतिमधुरीभूते त्वङ्मेदोमांसदूषणात्।
महत्यः पिडिकास्तत्र काले काले भवन्ति च ॥" [गणनाथ]

मधुमेहज प्रमोह—(Diabetic Coma)-यह अवस्था तब होती है जब शरीर के अन्दर एसेटिक एसिड, बीटा-औक्सीब्युटारिक एसिड और एसीटोन अत्यधिक होजावें। यह प्राय: प्राणघाती हुआ करता है।

चिकित्सा—निदान परिवर्जन। अर्वाचीन चिकित्सा में Insulin के आविष्कार के पूर्व इसकी चिकित्सा केवल पथ्य की सुव्यवस्था थी। भोजन को व्यवस्थित करने के लिए निम्न बातों का ध्यान देना चाहिए—(१) शर्करा विहीन भोजन तथा शर्करोत्पादक विहीन भोजन। (२) यदि मूत्र में एसीटोन तथा डाई एसेटिक एसिड मिले तो भोजन में शर्करोत्पादक (Carbohydrates) पदार्थों का थोड़ा संमिश्रण करदें, क्योंकि उक्त तत्व आने का अर्थ यह है कि शारीरिक वसा कार्बोज के अभाव में द्राक्षौज बनने के काम में आ रहा है जो उपेक्षा करने से प्रमेह की अवस्था उत्पन्न कर सकता है। उक्त बातों को सुव्यवस्थित रखने के लिए आवश्यक है कि रोगी की मूत्र परीक्षा जब तब करता रहे। (३) जहां तक हो अपतर्पण की चिकित्सा ही करनी चाहिए।

ज्ञानार्थ कुछ भोजनों की सूची दी जाती है, जिन में न्यूनातिन्यून शर्करा और कार्बोहाइड्रेट्स हैं:—

दुग्धवर्ग—घृत, मक्खन, पनीर, मलाई तथा शर्करा रहित दुग्ध।

धान्यवर्ग—निशास्ताहीन आटे की रोटी, बिस्कुट, केक, यव, कोद्रव, श्यमाक इत्यादि ।

शाक वर्ग—पालक, सेम, गोभी, शलजम, सलाद, कुन्दस, गाजर, मूली, टमाटर, बैंगन, भिण्डी, प्याज इत्यादि ।

मांस वर्ग—भेड़, बकरी, शूकर, मत्स्य, अण्डे ।

औषध चिकित्सा—(१)इन्सुलीन चिकित्सा, (२) प्रमेह के कारण विकृत अङ्गों की चिकित्सा—

"क्षौद्रमेहिनं खदिरक्रमुककषायं ।" [सुश्रुत]

शिलाजतु के भिन्न २ योग इसमें लाभ करते हैं । चन्द्रप्रभा वटी, इन्द्रवटी, बसन्तकुसुमाकर आदि रस से लाभ होता है । जम्बुफलमज्जा चूर्ण का प्रयोग लाभप्रद सिद्ध हुआ है । उपद्रव की चिकित्सा उपद्रव के अनुसार ही करें । सन्त्रस्थावस्था में २० से ३० यूनिट इन्सुलीन के सूचीवेध करें और ४ तोला के लगभग शर्करा खिलादें । यदि लाभ न हो तो २५ यूनिट इन्सुलीन का सूचीवेध और करते हैं । परन्तु मूत्र में शर्करा न हो तो इन्सुलीन देना अहितकर होता है । मलबन्ध को दूर करें ।

४—हस्तिमेह—"हस्तिमत्त इवाजस्रं मूत्रं वेगविवर्जितम् । सलसीकं विबद्धं च हस्तिमेही प्रमेहति ॥" [अष्टांग]

इन लक्षणों का विचार करने से हस्तिमेह अर्थात् "बिना उत्तेजना के निरन्तर मूत्रस्राव होना" नामक रोग होता है । यह विकार सुषुम्नागत मूत्र केन्द्र के आघात से, बस्तिवध के कारण, अश्मरी के कारण, या पौरुष ग्रन्थि के विकृत होने के कारण, होता है । इसमें बस्ति में मूत्र भरा रहता है और अतिरिक्त

मूत्र निकलता रहता है। कुछ आधुनिक विद्वान् इसे भी डाया-बिटीज इन्सिपिडस कहते हैं।

चिकित्सा—"हस्तिमेहिनं तिन्दुककपित्थशिरीषपलाशपाठामूर्वा-दुःस्पर्शाकषायं मधुमिश्रं हस्तिअश्वशूकरखरोष्ट्रास्थिक्षारंचे ति।"

नोट—वातजमेह शरीर के धातुओं के क्षयजन्य होने से तथा विरुद्धोपक्रम होने से असाध्य कहा गया है।

उपसंहार

"त्रिदोष कोप निमित्ताः विंशतिः प्रमेहाः भवन्ति।" [चरक]

प्रमेह की उत्पत्ति में वात, पित्त और कफ ये तीनों दोष प्रकृत अवस्था में नहीं रहते। फिर भी इन तीनों दोषों से उत्पन्न भिन्न २ प्रमेहों के नाम इस लेख में बताए गए हैं। इसका अर्थ यह है कि प्रमेह के उत्पन्न करने में, ये इन तीनों दोषों के कुपित होने पर भी जिस दोष का प्रबल कोप होता है, रोग (प्रमेह) के लक्षण उस दोष के अनुकूल होते हैं। आयुर्वेदीय अन्वेषण के अनुसार हमारे शरीर के निर्माण में तीन मूल उपादान पाए गए हैं और इन तीनों की तीन भिन्न २ क्रियाएँ शरीर के अन्दर दृष्टिगोचर होती हैं। ये मूल उपादान वात, पित्त, और कफ हैं और इनकी प्रधान क्रियाएं जीवन, पचन, वर्धन हैं। तात्पर्य यह है कि शरीर के मूलभूत उपादानों में से एक उपादान ऐसा है, जिस के बिना शरीर का कोई भी कार्य सम्पादित नहीं हो सकता, जो शरीर की प्राण शक्ति (Vital power) का मूलाधार है, जो आयु है, जो शरीरदाता है, जो प्रभु है और जो विभु है। यह मूल भूत उपादान वायु कहलाता

है। यह पांञ्चभौतिक होने पर भी वायु तथा आकाश गुण बहुल है। दूसरा उपादान वह है जिसकी उपस्थिति में शरीर का रासायनिक कार्य अर्थात् पाक या पचन होता है। इस तत्व के अभाव में हमारे शरीर के अन्दर कोई रासायनिक क्रिया होनी सम्भव नहीं। शरीर के जितने धातु हैं उनके अन्दर सदा पाक होता रहता है और उस पाक के कारण क्षीण धातुओं की पूर्ति के लिये दूसरा पाक शरीर के महास्रोतस् के अन्दर भुक्तान्न का होता रहता है। ये पाक इस दूसरे मूलभूत उपादान पित्त के कारण ही होते हैं। तीसरा मूलभूत उपादान वह है जिसकी उपस्थिति में ही ये तीनों कार्य सम्यक् रूप से हो सकते हैं। शरीर का वर्धन या शरीर के अन्दर रचनात्मक कार्य इसी उपादान से होता है, इसे कफ कहते हैं। जिस प्रकार विश्व की स्थिति में सत्वगुण, रजोगुण, और तमोगुण का स्थान है उसी प्रकार शरीर के अन्दर वात, पित्त और कफ का स्थान है।

मानव शरीर के मूलभूत उपादान वात, पित्त और कफ में जब किसी प्रकार की विषमता होती है तब शरीर में विकार उत्पन्न होता है। ये विकार दोष विषमता के प्रकार पर निर्भर करते हैं। प्रमेह विकार, प्रकुपित वात, पित्त और कफ के द्वारा मेद, मास, शरीरज क्लेद, शुक्र, शोणित, वसा, मज्जा, लसीका, रस और ओज के दूषित होने पर उत्पन्न होता है। इस में जिस प्रकुपित दोष की प्रधानता होती है, उसी के अनुकूल रोग के भी रूप होते हैं।

उदाहरण—कफज प्रमेह में उन धातुओं का क्षय होता है जिनसे शरीर की वृद्धि का सम्बन्ध है। इन मेहों में शरीर-

वृद्धि के आवश्यक उपादान निकलते रहते हैं जिससे शरीर की पुष्टि नहीं होती और पुष्टि के अभाव में शरीर क्षीण होने लगता है। यह विकार संतर्पण जन्य होता है, अर्थात् भोजन में जब हम आवश्यकता से अधिक प्रमाण में इन तत्वों का उपयोग करते हैं तो हमारी कायाग्नि उन तत्वों का उचित पाचन नहीं कर पाती जिससे यह रोग उत्पन्न होता है। इसीलिये इस की चिकित्सा भी अपतर्पण प्रधान है। अर्थात् कफ को नाश करने वाले रूक्ष कटु पदार्थ का सेवन इसमें लाभ प्रद होता है।

पित्तजप्रमेह—शरीर के अन्दर दो तरह का पाक होता रहता है। एक को अन्नपाक या आहार पाक कहते हैं और दूसरे को धातु पाक कहते हैं। दोनों पाकों का कर्त्ता पित्त है। कफजप्रमेह में प्रथम पाक अर्थात् अन्नपाक की ही केवल विकृति होती है, परन्तु पित्तजप्रमेह में अन्नपाक के साथ साथ धातु पाक भी बिगड़ जाता है जिससे शरीर के धातुओं के पाक करने वाले तत्वों का क्षय मूत्र द्वारा होने लगता है। इसकी चिकित्सा भी कठिन होती है, क्योंकि ये उपक्रम विरोधी होते हैं।

वातज प्रमेह—शरीर के अन्दर से जीवनीय उपादानों (Vital elements) का क्षय होने लगता है तो उसे वातज-प्रमेह कहते हैं। ये जीवनीय उपादान ४ रूप में मूत्र द्वारा निकलते हैं, जिन्हें आकृति के अनुसार चार नाम दिए गए हैं-मज्जामेह या सर्पिमेह, वसामेह, क्षौद्र या मधुमेह और हस्तिमेह। क्योंकि इसमें जीवनीय धातुओं का क्षय होता है, अतः इन्हें असाध्य कहा गया है।

श्वास-रोग

⚜

लेखक—

डा० रामदयाल कपूर
M. B. B. S. (हरिद्वार)
भू० पू० सिविल-सर्जन
गुरुकुल-कांगड़ी

श्वास-रोग एक ऐसा रोग है जिस का कारण प्राचीन समय से लेकर अबतक ठीक प्रकार से समझा नहीं जा सका। इसलिये इसकी चिकित्सा में भी अत्यन्त कठनाई होती है।

पाश्चात्य देशों में चिकित्सक लोग भिन्न २ दृष्टियों से इस की खोज में लगे हुए हैं, यहां तक कि केवल दमे की चिकित्सा के लिये चिकित्सालय खुले हुए हैं जहां कि इस रोग की चिकित्सा होती है। भारतवर्ष में इस प्रकार का चिकित्सालय अभी तक कोई नहीं है, जहां पर परीक्षण के लिये केवल इसी रोग की चिकित्सा होती हो।

इंग्लैंड में सन् १९२७ में एक आस्थमा रिसर्च कौन्सिल स्थापित हुई और उसका कार्य अभी तक चल रहा है। यह संस्था रोगियों तथा अन्य लोगों के दान से चलती है, और भिन्न २ चिकित्सालयों में अन्वेषकों को इससे वेतन मिलता है।

सब दमे के रोगी केवल एक प्रकार की चिकित्सा से अच्छे नहीं होते। किसी को कोई चिकित्सा लाभ करती है और किसी को कोई। परन्तु कुछ रोगी ऐसे बच जाते हैं जिन

को किसी चिकित्सा से लाभ नहीं होता। इसका कारण यह है कि दमे का असली कारण अभी तक मालूम नहीं हो सका।

दमे का रोग इस प्रकार से रोग नहीं माना जाता जैसे मलेरिया, प्लेग, हैजा आदि, परन्तु यह एक प्रकार का लक्षण है जैसे सिरदर्द, पेटदर्द आदि, जो कि अनेक भिन्न २ कारणों से हो सकते हैं, और जैसा कारण हो वैसा इलाज किया जाता है। इसी तरह दमे के भी भिन्न २ कारण होते हैं और कारणानुसार उसका इलाज करना चाहिये। निदान मालूम करके जब इसका इलाज किया जाता है तो यद्यपि जड़ से इस रोग को उखाड़ फैंकना तो अभीतक असंभव है, परन्तु बहुत हद तक रोगी को लाभ पहुँचाया जा सकता है, जिस से वह अपना जीवन पहले की अपेक्षा अधिक आराम से व्यतीत कर सकता है।

दमे का मूल कारण—आयुर्वेदिक ग्रन्थों में जैसे भिन्न २ रोगों के लिये वात, पित्त या कफ प्रकृति मानी जाती है वैसे ही दमे के रोग के लिये एक विशेष प्रकार की प्रकृति होती है। सब स्वस्थ व्यक्तियों में शरीर के द्रव पदार्थों (Body fluids) की रासायनिक रचना (Chemical constitution) एक समान नहीं होती परन्तु आपस में उनमें थोड़ा थोड़ा भेद होता है।

आस्थमा रिसर्च कौंसिल के प्रधान डा० हर्स्ट का मत है कि यद्यपि इन सूक्ष्म भेदों के रहते हुए भी पूर्ण स्वास्थ्य रह सकता है, परन्तु यह भेद किसी व्यक्ति में किसी विशेष रोग की प्रवृत्ति होने का मूल कारण होते हैं, जिससे उस व्यक्ति में

जन्म से ही अथवा पैतृक रूप से ही किसी विशेष रोग में ग्रस्त होने की प्रवृत्ति होती है। इसी तरह दमे के रोगी में भी उसके रक्त के अन्दर जो लवण आदि पदार्थ होते हैं उनके न्यूनाधिक हो जाने से उस रोगी में इस रोग की प्रवृत्ति हो जाती है। इस को श्वास प्रवृत्ति (Asthma diathesis) कहते हैं।

इसी डाक्टर के मतानुसार मेडुला में श्वासकेन्द्र के दो भाग होते हैं एक वागस से, और दूसरा सिम्पेथैटिक से सम्बन्ध रखने वाला, जिनका प्रभाव श्वास नालियों (Bronchi) की मांसपेशियों तथा स्राव की ग्रंथियों पर होता है, और जो स्वास्थ्य में समतुलित (Balanced) रहते हैं। परन्तु यदि रक्त की विशेष प्रकार की रचना के कारण वागस सम्बन्धी भाग अधिक प्रधान हो जावे (Vagotonia) तो विशेष प्रकार के उत्तेजक कारण जो एक स्वस्थ व्यक्ति पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकते वही कारण ऐसी अवस्था की उपस्थिति में दमे के लक्षण पैदा कर देते हैं। अर्थात् श्वास की नालियों का संकुचित हो जाना, वहां रक्त का अधिक आजाना, और ग्रंथियों में से श्लेष्म का स्राव अधिक मात्रा में निकलने लगना। ये सब वागस नर्व के काम हैं।

श्वास प्रवृत्ति में अर्थात् श्वास रोग में रक्त की रासायनिक रचना में क्या विशेषता होती है इस विषय पर खोज जारी है। डाक्टर ओरियल ने यह सिद्ध किया है कि दमे के दौरे की अवस्था में तथा दौरे के बाद रोगी के रक्त तथा मूत्र में कुछ विशेष परिवर्तन हो जाते हैं। उन्होंने देखा कि दौरे की अवस्था में मूत्र में एक प्रोटिओज़ से मिलता जुलता पदार्थ निकलता है।

यदि इस पदार्थ का पर्याप्त मात्रा में किसी रोगी में सूचीवेध (Injection) किया जावे तो दमे का दौरा उठ खड़ा होता है, और यदि थोड़ी थाड़ी मात्रा में सूचीवेध किया जावे तो रोगी को डिसेन्सिटाइज़ किया जा सकता है, अर्थात् दौरे को उठने से रोका जा सकता है, और रोगी का दमा अच्छा हो जाता है।

प्रो० मी डोवेल ने रक्त परीक्षा से मालूम किया है कि रक्त में केल्सियम, पोटाशियम तथा कार्बन डायोक्साइड का सम-तुलन बहुत महत्व रखता है। पोटाशियम की मात्रा किसी में कम होती है और किसी में अधिक, और यदि रक्त में एड्रिनलीन सूचीवेध द्वारा दिया जावे तो रक्त में थोड़ी देर के लिए पोटा-शियम की मात्रा ५० प्रतिशत से भी अधिक बढ़ जाती है। यह पोटाशियम यकृत से आता है। रोगी को पोटाशियम के लवण खिलाने से भी लाभ होता है। इससे यह पता चलता है कि सिम्पेथैटिक नर्वस सिस्टम पर रक्त के पोटाशियम का बहुत प्रभाव है। आमाशय द्वारा पोटाशियम किन किन अवस्थाओं में अधिक प्रविष्ट (Absorb)होता है इस पर भी परीक्षण किये जा रहे हैं। यह देखा गया है कि सोडियम के लवण तथा कुछ विटामीन्स इसके प्रवेश में सहायता देते हैं। कार्बन डायोक्सा-इड के बारे में देखा गया है कि यह सिम्पेथैटिक नर्व को उत्ते-जित (Stimulate) करता है और एड्रिनलीन के स्राव को अधिक करता है। इस लिए यदि दौरे के समय रोगी को कार्बन डायोक्साइड सुँघाया जावे तो लाभ होता है। इसके सुंघाने के लिये विशेष यन्त्र भी बनाये गये हैं।

डा० डी सिल्वा ने यह परिणाम निकाला है कि यदि

सिम्पेथैटिक नर्वस सिस्टम को उत्तेजित किया जावे तो रक्त में पोटाशियम की मात्रा बढ़ जाता है। इस लिये एड्रिनलीन की तरह ही पोटाशियम का भी श्वासनलिका की मांसपेशियों पर प्रभाव होता है। डा० ब्रे ने देखा है कि बहुत से दमे के रोगियों के आमाशय रस में उद्रहरिकाम्ल (Hydrochloric acid) की मात्रा कम पाई जाती है (Achlorhydria), और रक्त में क्षारीयता (Alkalinity) अधिक होती है (Alkalosis)। यदि उन्हें उद्रहरिकाम्ल औषधि के रूप में पिलाया जावे या उन्हें ऐसा भोजन दिया जावे जिससे अम्ल पैदा हो (Ketogenic) तो उन्हें लाभ होता है।

दमे के रोगी के रक्त में इयोसिनोफिल्स (Eosinophils) की संख्या भी अधिक पाई जाती है। यहां तक कि इस प्रकार के श्वेताणु (Leucocyts) उसका थूक में भी पाये जाते हैं। अन्तःस्रावी ग्रन्थियां (Ductless glands) का भी रक्त की रचना पर प्रभाव पड़ता है। थकावट से रक्त में एड्रिनलीन की कमी हो जाती है और इसलिये दमे का दौरा उठने की सम्भावना होती है, क्योंकि सिम्पैथैटिक नर्वस सिस्टम को काम करने के लिये पर्याप्त एड्रिलीन नहीं मिलती और वागस के कार्य का प्रभुत्व हो जाता है। एड्रिनलीन की कमी के कारण कई दमे के रोगियों का रक्तचाप (Blood pressure) कम होता है और बहुत से रोगियों के रक्त में ग्लूकोज की मात्रा भी कम हो जाती है (Hypoglycaemia)। कई स्त्रियों में मासिक-धर्म से पहले या बाद में दमे के दौरे उठते हैं क्योंकि उस समय रक्त की रचना में कुछ परिवर्तन आ जाता है।

यह भी देखा गया है कि ४००० से ६००० फीट की ऊंचाई के स्थानों में यह रोग नहीं होता। जो रोगी ऐसे ऊंचे स्थानों पर जाकर रहने लगते हैं उनको यह रोग नहीं होता, परन्तु जब वे फिर मैदान में आकर रहने लगते हैं तो उन्हें फिर से रोग हो जाता है। इसका कारण यह है कि इतने ऊँचे देशों में जाने से उनके रक्त में कुछ परिवर्तन पैदा हो जाते हैं जिस से वे उत्तेजनायें जो पहले हानिकारक थीं अब रोगी पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकतीं। कई दमे के रोगी जो हवाई जहाज चलाने का काम करते हैं वे भी बताते हैं कि वायुयान को इतनी ऊंचाई पर ले जाने से उन्हें पहले से अच्छी तरह सांस आने लगता है। ६००० फीट से अधिक ऊपर जाने से दमे का रोग फिर से शुरू हो जाता है। अधिक ऊँचाई पर जाने से रक्त में क्या क्या परिवर्तन हो जाते हैं जब इसका पता चल जावेगा तो इस रोग की चिकित्सा में भी आसानी हो जावेगी।

रोगी के आचार-व्यवहार, भोजन और उसकी परिस्थितियों में परिवर्तन करने से रोगी के रक्त की रचना में परिवर्तन किया जा सकता है।

अब उन कारणों का वर्णन किया जाता है जिनका कि एक स्वस्थ व्यक्ति पर कोई प्रभाव नहीं होता परन्तु एक ऐसे व्यक्ति में जिस में उपरोक्त श्वास प्रवृत्ति हो यह रोग का कारण होते हैं।

(१) The psychological factiors अर्थात् मानसिक प्रभाव:—

दमे के कारणों तथा चिकित्सा में मानसिक प्रभाव का बड़ा महत्व है। दमे के दौरे में आशा (Expectation) या आत्म-

प्रेरणा (Autosuggestion) का बड़ा हाथ है। जब रोगी को विशेष स्थानों या परिस्थितियों में दौरा उठता हो तो रोगी यह आशा करने लग जाता है कि इन परिस्थितियों में उसे अवश्य दौरा उठेगा। इसी प्रकार यदि उन परिस्थितियों को बदल दिया जावे तो उस बदले हुए स्थान में आते ही मानसिक प्रभाव के कारण कई बार उनका यह रोग जाता रहता है। इसी प्रकार किसी नई प्रकार की चिकित्सा से भी कई बार मानसिक प्रभाव के कारण, कि उसको इससे अवश्य लाभ होगा, उसका रोग हट जाता है। रोगी को इसलिये हमेशा यह विश्वास दिलाते रहना चाहिए कि वह अमुक चिकित्सा से अच्छा हो जावेगा। डाक्टर की Personality (व्यक्तित्व) इस रोग की चिकित्सा में बहुत महत्व रखती है। सम्भवत: औषध या सूचीवेध की अपेक्षा इसका प्रभाव अधिक होता है और यह निर्णय करना कठिन है कि अमुक प्रकार की चिकित्सा में चिकित्सक के व्यक्तित्व का कितना हाथ है। जो रोगी यह समझते हैं कि एड्रिनलीन के सूचीवेध से उनका दौरा रुक जावेगा उन्हें यदि स्रवित जल (Distilled water) या लवण जल (Normal saline) का सूचीवेध बिना बताये दे दिया जावे तो आधे से ज्यादा रोगियों का दौरा ठीक हो जाता है।

किसी प्रकार का मानसिक कष्ट (Nervous tension), घरेलू झगड़े, या मस्तिष्क पर किसी प्रकार की चिन्ता (Anxieties), मानसिक संघर्ष (Psychic conflict) जैसे लैङ्गिक संघर्ष (Sex conflict) तथा निराशा और भय ये सब भी दमे का कारण होते हैं। अधिक कार्य, थकावट, भावुकता (Emotions) तथा वातिक-आघात (Nervous shock)

भी सहायक कारण होते हैं।

यह रोग वातिक प्रकृति के परिवारों (Neuropathic families), में पाया जाता है, अर्थात् जिन families में Migraine (आधा सीसी), Epilepsy (अपस्मार) तथा हिस्टीरिया आदि रोग हों। रोगी स्वयं भी प्रायः भावुक प्रवृत्ति (Emotional type) का होता है तथा औसत दर्जे के आदमियों से अधिक बुद्धिमान होता है।

(२) Reflex exciting causes अर्थात् शरीर के किसी दूसरे भाग में उत्तेजना के उठने से दमे का रोग प्रक्षेपित रूप से हो जाता है। प्रक्षेपक कारणों में नाक का महत्व सबसे अधिक है। ओर्डा तथा डिसेन ने प्रदर्शित किया है कि नासाफलक (Nasal septum) के विशेष भागों को यदि Probe (सलाई) से छुआ जावे तो (Bronchial spasm) श्वास नालियों की मांस पेशियों का संकोच हो जाता है। इन स्थानों को श्वासोत्पादक स्थान (Asthmogenic areas) कहते हैं। रात को रोगी करवट पर सोता है और उसकी फूली हुई टर्बिनेट अस्थि नाक के बीच की दीवार से छूने लगती हैं तो दमे का दौरा उठ जाता है। नाक के छेद, (Polypi) अकुँर तथा Deflected septum से भी तंग हो जाते हैं। कई लोगों का मत है कि उपरोक्त नाक के विकार दमे से पहले नहीं परन्तु बाद में उसके कारण हो जाते हैं और दमे की चिकित्सा में यदि नाक के आप्रेशन किये जायें तो दमे को अधिक लाभ नहीं होता परन्तु टर्बिनेट को काटने से जब ठंडी हवा नाक में से जाती है तो दमे के रोगी को उलटे हानि पहुँचती है।

नाक के अतिरिक्त अन्य स्थानों के संक्रमण (Focal

infection) जैसे ब्रोंकाइटिस, टोन्सिलाइटिस, एडिनोयड्, साइनस, संक्रमण, पूरित क्षयजन्य श्वास ग्रन्थियाँ (Healed tuberculosis of Bronchial glands) आदि तथा स्त्रियों में गर्भाशय तथा बीजकोष के विकार भी दमे के प्रक्षेपक कारण होते हैं।

दूसरा मुख्य प्रक्षेपक कारण आमाशय तथा आन्त्र हैं। यदि आमाशय और मलाशय भरे हुए हों तो भी दमे का दौरा उठने लगता है अर्थात जब महाप्राचीरिका (Diaphragm) पर अधिक अन्तरुदर (Intra-abdominal) दबाव पड़ता हो, क्योंकि महाप्राचीरिका और आमाशय दोनों वागस नर्व के क्षेत्र हैं। वमन या विरेचन या साधारण वस्ति आदि से पेट को खाली कर देने से दमे का दौरा आसानी से बन्द किया जा सकता है, और हानिकारक शामक औषधियों की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसलिये रोगी को सोने से पहले खूब पेट भरकर भोजन नहीं खाना चाहिये और ना ही वायु पैदा करने वाले पदार्थ खाने चाहियें।

(३) Allergy:—ऐलर्जी का शब्द वानपिर्केट ने ट्युबर्कलीन के सम्बन्ध में बनाया था, परन्तु अब यह शब्द अन्य वस्तुओं के लिये भी प्रयुक्त होते हैं जिनका कि स्वस्थ व्यक्ति पर तो कोई प्रभाव नहीं होता परन्तु कुछ व्यक्तियों में वही पदार्थ उसी मात्रा में हानिकारक लक्षण पैदा कर देता है, अर्थात् कुछ व्यक्ति उस पदार्थ के लिये हाइपरसेन्सिटिव होते हैं। इस अवस्था को ऐलर्जी कहते हैं, और उस पदार्थ को ऐलर्जन कहते हैं। यह ऐलर्जी या तो जन्म से होती है (Congenital) अथवा बाद में किसी रोग के कारण शारीरिक तन्तुओं को हानि

पहुँचने से भी हो जाती है (Acquired)। एलर्जी चार प्रकार की हो सकती है:—Ingestion अर्थात् खाद्य पदार्थों से, Inhalation अर्थात् श्वास के द्वारा पदार्थों के अन्दर जाने से, Contact अर्थात् त्वचा को छू जाने से, तथा Injection अर्थात् त्वचा में चुभ जाने से। पहले यह समझा जाता था कि केवल प्रोटीन ही ऐलर्जी पैदा करते हैं परन्तु अब यह देखा गया है कि प्रोटीन भिन्न पदार्थ भी कई बार यह प्रभाव रखते हैं। खाद्य पदार्थों में दूध, अंडा, गेहूं, चावल, दालें तथा औषधियां शामिल हैं।

रोगी पर भोजन कई प्रकार से प्रभाव डाल सकता है—एलर्जी के कारण रोगी इसे सहन न कर सकता हो; आमाशय में अफारा कर देने से प्रक्षेपक कारण बन जाता हो; अपचन के कारण अर्धपक्व पदार्थ रक्त में प्रवेश कर जाते हों; या पाचन शक्ति की विकृति के कारण रोगी को वह भोजन अनुकूल न होता हो।

श्वास द्वारा जो चीजें रोगी में ऐलर्जी पैदा करती हैं वह बहुत सी हैं।—जानवरों की गंध या उनके ऐपीथीलियल सेल्स जैसे पक्षी, मुर्गी, कुत्ता, बिल्ली, घोड़ा, भेड़, बकरी, चूहा, खरगोश, गिनीपिग, हिरन, बन्दर आदि पालतू जानवर। सब प्रकार की धूल —घर की धूल, पंख, ऊन, रेशम, माल्डूस, फंगाई, सुगन्धित द्रव्य, धुवां, (जैसे गंधक का धुवां), मानवीय केश, डेन्ड्रफ। तथा फूलों के पराग, विन्ड पोलिनेटेड तथा क्रौस पोलिनेटेड दोनों प्रकार के फूलों के पराग।

स्पर्श से ऐलर्जी के उदाहरण:—

विशेषः- वस्त्र, रासायनिक अथवा भौतिक द्रव्य जैसे फूल, साबुन, मुखप्रलेप (Cosmetics) आदि हैं। आपने

देखा होगा कि बिच्छू-बूटी आदि वनस्पतियों के छू जाने से भी सारे बदन पर खुजली उठने लगती है। कई रोगियों में केवल ठंडी हवा लगने से आंखों में खुजली, छीकें, और दमे का दौरा उठ खड़ा होता है।

क्रिमि द्वारा परागित पुष्पों से तो रोगी को बचाया भी जा सकता है परन्तु विन्डपोलिनेटेड से बचाना कठिन है, यहां तक कि उसके कमरे के दरवाजे खिड़कियां अधिकतर बन्द रखनी पड़ती हैं। सूचीवेध द्वारा ऐलर्जी में रक्तद्रव, वनस्पतियां, काटने वाले प्राणी (Bites) और डंकमारने वाले (Stings) शामिल हैं, जैसे भिड़, जूं, खटमल आदि के डंक।

यह जानने के लिये कि किस २ वस्तु के लिये रोगी हाइपर सेन्सिटिव है त्वचापरीक्षा (Skin tests) का प्रयोग होता है। यह अमेरिका में सन् १९१६ के लगभग पहले पहल प्रयुक्त किये गये। इसमें त्वचा को खुरच कर (Scarification) या Intradermic method द्वारा वस्तुओं के सत्व प्रविष्ट किये जाते हैं। बाजू के सामने का पृष्ठ तथा पीठ, पेट आदि पर कई जगह ऐसा किया जाता है। जिस २ वस्तु के लिये रोगी सेन्सिटिव होगा वहां वहां धप्पड़ उठ आते हैं जो २४ घंटे तक रहते हैं परन्तु इन परीक्षाओं में यह कमी है कि नकारात्मक परिणाम (Negative reaction) से आप यह नहीं कह सकते कि रोगी उस वस्तु के लिये ऐलर्जिक नहीं है। रोगी प्रायः एक से अधिक वस्तुओं के लिये सेन्सिटिव होता है।

जिन जिन चीजों के लिये रोगी सेन्सिटिव हो उन उन वस्तुओं से रोगी को बचना चाहिये अथवा इन वस्तुओं के

तत्त्व के सूचीवेध द्वारा रोगी को डीसेन्सिटाइज किया जा सकता है।

यह स्मरण रखना चाहिये कि उपरोक्त तीन प्रकार के कारणों, मानसिक प्रक्षेपक तथा एलर्जिक से इस रोग का उत्पन्न होना भी, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है रक्त की रचना पर निर्भर है जो भिन्न २ अवस्थाओं में बदलती रहती है जैसे स्वास्थ्य की भिन्न २ अवस्थाएँ अजीर्ण, मासिकधर्म, गर्भावस्था, अन्य रोगों का आक्रमण, मानसिक अवस्थाएं (Emotions & excitement), थकान, जल-वायु तथा स्थान का परिवर्तन, परिस्थितियों (Environments) तथा स्थान की ऊंचाई (Attitude) में परिवर्तन। कई रोगी शुष्क वायुमण्डल में अच्छे रहते हैं और कई आर्द्र वायुमण्डल में। कई शहर में अच्छे रहते हैं कई गांव में। आस्थमा के अतिरिक्त अन्य एलर्जिक रोग ये हैं—हे फिवर, पेरोक्सिजमल राइनोरिया, दद्रू (Eczma), शीतपित्त (Urticaria), डरमेटोग्राफिया, आधासीसी (Migraine), तथा लैरिन्जिसमस स्ट्रिडुलस।

चिकित्सा:—दमा रोग के कारण ऊपर विस्तार से कहे जा चुके हैं। कारण मालूम करके रोग की चिकित्सा करने से अधिक लाभ हो सकता है।

थकावट तथा भय, शोक आदि मानसिक कारणों से रोगी को बचना चाहिये। प्रक्षेपक कारण जैसे नाक के रोगों का इलाज वैक्सीन द्वारा हो सकता है। पेट को भोजन से अधिक नहीं भरना चाहिये और मलबन्ध का ध्यान रखना चाहिये।

रोगी को एक डायरी रखनी चाहिये जिसमें वह लिखता

रहे कि किन किन कारणों के बाद उसे दौरे उठते हैं और उसे चाहिये कि उन चीजों से बचे। ठण्डी हवा से रोगी को बचना चाहिये और यदि हो सकता हो तो कुछ समय के लिये पहाड़ पर वास करना चाहिये। रोगी का कमरा उसके बाहिर चले जाने के बाद झाड़ना चाहिये।

रोगी का भोजन हलका होना चाहिये और उसके भोजन में ऐसी चीजें नहीं होनी चाहिये जिससे उसको दौरा उठता हो। यदि किसी पालतू जानवर के सम्पर्क में आने से दौरा उठता हो तो उससे बचना चाहिये। एलर्जी के अन्य कारण भी ऊपर कहे जा चुके हैं।

दौरे के समय एड्रिनलीन ½ सी सी का सूचीवेध किया जाता है। कई बार गले में एड्रिनलीन (१ : १००) का स्प्रे करने से दौरा रुक जाता है। यह स्प्रे करने के लिये ओटोमाइजर का प्रयोग होता है। यदि दौरा बहुत तीव्र हो तो ऐड्रिनलीन का निरन्तर प्रयोग होता है अर्थात् बूंद बूंद करके ऐड्रिनलीन का सूचीवेध करते हैं, जब तक कि दौरा बंद नहीं हो जाता इसके बाद सूचीवेध की सूई त्वचा के अन्दर ही रहने दी जाती है और रोगी के पास भरा हुआ सिरिंज पड़ा रहता है। आध घंटा, एक घंटा, या दो चार घंटे बाद जब भी दौरा दुबारा उठने लगे रोगी या उसके परिचारक उसे दो चार बूंद का सूचीवेध कर देते हैं।

कई रोगियों में इफेड्रीन या स्यूडोइफेड्रीन खिलाने से लाभ हो जाता है परन्तु यह हलके दौरे में ही कार्य करते हैं और कई रोगियों को हानि भी पहुँचाते हैं। कई औषधियाँ

धूम्रपान द्वारा भी दी जाती हैं जैसे शोरा, स्ट्रमोनियम, आदि। यद्यपि ये दौरे को कुछ कम कर देती हैं, परन्तु अधिक प्रयोग से जीर्णश्वास, प्रणालीप्रदाह या एम्फीजोमा पैदा करती हैं। दमे के रोगी के लिये मार्फिया का प्रयोग निषिद्ध है।

दौरे के बाद:- पोटाशियम आयोडाइड तथा सोमल (Arsenic) का प्रयोग किया जाता है।

आजकल दमे के लिये विशेष प्रकार की श्वास की व्यायामों का प्रयोग किया जाता है। यह देखा गया है कि गायकों में दमा नहीं होता। साधारण श्वासपूरक व्यायाम (Inspiratory Breathing exercises) दमे के लिये हानिकारक होती हैं। दमे के लिये रेचक व्यायाम (Expiratory Breathing exercises) होनी चाहियें, अर्थात् नाक से थोड़ा सा अन्दर को सांस लेकर अधिक से अधिक समय तक मुख से लम्बा प्रश्वास (Expiration) करना चाहिये। यह व्यायाम, परिगाणन, सीटी बजाना, आदि की होती हैं। इन से महाप्राचीरिका तथा उदरमांस पेशियों का व्ययाम होता है। और यह ठीक प्रकार से कार्य करने लगते हैं। दमे के रोगी में छाती की मांसपेशियां अधिक कार्य करती हैं और महाप्राचीरिका कम कार्य करती है, जिससे छाती की आकृति विकृत हो जाती है और छाती का ऊपर का भाग निचले भाग की अपेक्षा अधिक चौड़ा हो जाता है।

दमे की चिकित्सा एक्स-रे और अल्ट्रा वायोलेट किरणों से भी की जाता है॥

अर्शोरोग

(Hæmorrhoids or Piles).

लेखक—

ब्रह्मदत्त शर्मा आयुर्वेदालङ्कार;

आयुर्वेदाचार्य; वैद्यधुरीण;

उपाध्याय, सुश्रुत, गुरुकुल आयुर्वेद महाविद्यालय;

गुरुकुल कांगड़ी ।

अर्शोरोग*

परिभाषा

मलाशय के निम्नभाग और गुदा के चारों ओर की शिराओं में कुटिलता-कठिनता और खरता के साथ-साथ होने वाले विस्ताररूप विकार को अर्शोरोग कहते हैं।

स्वरूप

असंयत पुरुषों में दोषप्रकोपक कारणों से, विरोधी खाद्यों को एक संग सेवन करने से, एक भोजन के बाद उसके पचे बिना ही दूसरा भोजन करने से, अत्यधिक मैथुन से, उकड़ूँ बैठने से, हाथी-घोड़े-ऊँट की सवारी अधिक करने से, मलमूत्रादि के वेगों को रोकने से तथा अन्य इसी प्रकार के प्रकोपक कारणों से वातादि दोष प्रकुपित हो जाते हैं। ये दोष

---

*इस लेख में मलाशय और गुदा के ही अर्शोरोग का वर्णन किया गया है, अन्य स्थानों वाले का नहीं। "गुदवलिजानां त्वर्शांसीति संज्ञा तन्त्रेऽस्मिन्।" [चरक। चिवि० ।१४।६।]

अलग-अलग, दो-दो की जोड़ी में, या सब मिलकर, या रक्त के साथ योग बनाकर सारे शरीर में फैलते हैं। इस प्रकुपित अवस्था में ये दोष सभी (दसों) प्रधान धमनियों (रक्तवाहिनियों) में होते हुए दोष की प्रकृति के अनुसार यथानुकूल निर्बल स्थान में स्थित हो जाते हैं। इधर जब इस प्रकार से इन दोषों का प्रकोप होकर प्रसार हो रहा होता है तो उधर मलाशय के अधोभाग की ओर गुदा की शिरायें उत्तेजक पदार्थों के सेवन आदि कारणों द्वारा निर्बल और विकृत हो गई होती हैं। इन निर्बल और विकृत शिराओं में इन प्रकुपित दोषों के अवस्थित होने से उनका स्वाभाविक रक्तसंचार प्रतिरुद्ध हो जाता है और फलतः उस प्रदेश में ये शिरायें रक्तमय मखमली उभारों और मस्सों के रूप में फूली हुई दीखती हैं। साथ ही साथ वे शिरायें टेढ़ी भी पड़ जाती हैं (सिराकौटिल्य—Varicosity of veins)। इन्हीं फूले हुए मस्सों को 'अर्श' कहते हैं[1]।

तिनका, लकड़ी, कंकर-पत्थर, खुरदरा कपड़ा, कठिन वस्तु, शीतजल इत्यादि लगने से इन मस्सों में वेदना बहुत होती है और इनका परिमाण बढ़ जाता है[1]। शुष्क मल के दबाव-पूर्वक गुजरने से इन मस्सों के ऊपर की झिल्ली फट जाती है, और इनमें से रक्त निकलने लगता है।

---

1. "तत्रानात्मवतां यथोक्तैः प्रकोपणैर्विरुद्धाध्यशनस्त्रीप्रसंगोत्कटुकासनपृष्ठयानवेगविधारणादिभिर्विशेषैः प्रकुपिता दोषा एकशो द्विशः समस्ताः शोणितसहिता वा यथोक्तं प्रसृताः प्रधानधमनीरनुप्रपद्याधो गत्वा गुदमागम्य प्रदूष्य गुदवलीर्मांसप्ररोहाञ्जनयन्ति विशेषतो मन्दाग्नेः, तथा तृणकाष्ठोपललोष्ठवस्त्रादिसंघर्षाच्छीतोदकसंस्पर्शनाद्वा कन्दाः परिवृद्धिमासादयन्ति, तान्यर्शांसीत्याचक्षते ॥" [सुश्रुत । निदान ।२।३।]

पर्याय

संस्कृत—अर्शः, दुर्नामकम्, दुर्नाम, हतनाम, **अनामकम्**, गुदकीलः, गुदांकुरः, गुदप्ररोहः, गुदजः, गुदरोगः, **मूलरोगः** इत्यादि ।

अरबी—बवासीर ।

आंग्लभाषा—Piles, Hæmorrhoids.

लैटिन (नवीन)—Pilæ.

निरुक्ति और व्युत्पत्ति

अर्शः—१. 'ऋच्छन्ति गुदेन्द्रियप्रलयं कुर्वन्ति, तन्मांसवृत्तित्वेनेत्यर्शांसि ।' २. 'ऋच्छति प्राप्नोति गुदमित्यर्शः ।'—'ऋ गतौ' धातु का व्याधि अर्थ में यह रूप है । ऋ + असुन् ('सर्वधातुभ्योऽसुन्' । उणादि०) = अर् + अस् = अर् + शुट् ('अर्तेर्व्याधौ शुट् च' उणादि० ४।१९५) + अस् = अर् + श् + अस् = अर्शस् = अर्शः । ३. 'अरिवत् प्राणान् शृणाति हिनस्ति इति अर्शः ।' पृषोदरादि पाठान्निरुक्तिः ! = अर्शः ।४. 'अरिवत् शसन्ति हिंसन्ति इति अर्शांसि'[१] । अरि + शस् । पृषोदरादिपाठात्सिद्धिः । = अर्शांसि ।

दुर्नामकम्, दुर्नाम—'दुष्टं नामापि यस्य, दुःखप्रदं नामापि यस्य वा' । अर्शोरोग को पापरोग माना जाता है[२], और इसी

---

१. "अरिवत् प्राणिनो मांसकीलका विशसन्ति यत् । अर्शांसि तस्मादुच्यन्ते गुदमार्गनिरोधतः ॥" [अष्टांगहृदय । निदान ।७।१।].

२. "अर्शआद्या महारोगा अतिपापाद्भवन्ति हि ।"—[शातातपस्मृति] ।

लिये इसके नाम में भी दुःखप्रदता मानी जाती है।

हतनाम—'दुर्नाम' का ही भाव इसमें भी है।

अनामकम्—इसमें भी 'हतनाम' का ही भाव है।

गुदकीलः—इत्यादि नाम गुदा में मस्से रूप रोग होने के कारण रखे गये हैं। 'मूलरोग' का भी यही भाव है, क्योंकि अनेकस्थानों पर शरीर के निचले एवं गुदाप्रदेश को 'मूल' नाम से याद किया जाता है।

बवासीर—'बवासीर' शब्द वास्तव में अरबी भाषा के 'बासूर' शब्द का बहुवचन है। 'बासूर' शब्द अरबी की 'बसर' धातु से बना हुआ है। 'बसर' का अर्थ है उभरना, विजय प्राप्त करना, दबाना, पीड़ित करना, तीव्र करना, इत्यादि। इस प्रकार 'बवासीर' का अर्थ हुआ–'वे मौके-मस्से या वृद्धियां जो उभर कर उस स्थान को दबायें और इस प्रकार उस स्थान में तकलीफ़ पहुँचावें'। ठीक यही भाव 'अर्शः' का भी है।

Piles—अंग्रेजी का यह शब्द लैटिन के Pila शब्द से बना है, जिसका अर्थ है–'गोल पदार्थ'। बवासीर के मस्से गोल होते हैं, अतः उनके अर्थ में यह शब्द रूढ होगया। Piles का लैटिन (नवीन) में पर्याय Pilæ है। इसका ठीक प्रतिनिधि शब्द संस्कृत में 'वातार्श' या 'शुष्कार्श' है।

Hæmorrhoids—यह शब्द ग्रीक भाषा के hema (=रक्त) और rrhoos (=स्राव) इन दो शब्दों के संयोग से बना हुआ है। स्राववाची शब्द का एक रूप ग्रीक

में rhein (=स्राव) भी है, जिसका ठीक अर्थ है, 'बहती शिरा'। इस प्रकार इन दोनों शब्दों के संयोग से ग्रीक में hemorrhoos शब्द बना, जिसका अर्थ है, 'रक्त स्रवित करना'। दूसरे स्राववाची शब्द के साथ संयोग से hemorrhois (*pl.*, hemorrhoides) बना, जिसका अर्थ है, 'रक्तस्रवण करने वाली शिरायें', इसी शब्द से अंग्रेजी का hæmorrhoids शब्द बना। इस शब्द का संस्कृत में ठीक पर्याय 'परिस्रावी अर्श' या 'रक्तार्श' है।

Pilæ—यह नवीन लैटिन का शब्द लैटिन के ही pila (गोल पदार्थ) का बहुबचन है।

क्षेत्र* और अधिष्ठान

अर्शोरोग के क्षेत्र एवं अधिष्ठान पर विचार करने से पूर्व मलाशय और गुदा की रचना जान लेना आवश्यक है।

बृहदन्त्र का निम्नतम भाग मलाशय[1] और गुदा[2] से बना है। इस भाग की कुल लम्बाई १४.५४ सैण्टीमीटर (लगभग ६ इंच या ८ अंगुल) है। इसका इस प्रकरण में वर्णनीय भाग ६ सैण्टीमीटर या ३॥ इञ्च या लगभग ४॥ अंगुल है। समूचे मलाशय की वास्तविक लम्बाई १० सैण्टीमीटर

---

१. Rectum. २. Anus.

* क्षेत्र = देश, Incidence.—"क्षेत्रमितिदेशः।"–[चरक। चिकि० ।१४।३।]। "देशस्तु भूमिरातुरश्च। तत्र भूमिपरीक्षा आतुरपरिज्ञानहेतोर्वा स्यादौषधपरिज्ञानहेतोर्वा ॥—॥...आतुरस्तुखलु कार्यदेशः, तस्य परीक्षा आयुषः प्रमाणज्ञानहेतोर्वा स्याद्बलदोषप्रमाणज्ञानहेतोर्वा ॥" [चरक। विमान ।८।९३–९४।]

(लगभग ५ इञ्च या ६।। अंगुल) है, उसके नीचे २.५४ सैण्टीमीटर (१ इञ्च) लम्बी गुदा समकोण बना कर इससे मिलती है। इस संयोगस्थल से कुछ ऊपर मलाशय की अगली दीवार कुछ उभर कर बीच की प्रणाली को कुछ विस्तृत कर देती है, जहाँ मल प्रभूत मात्रा में संचित रहता है। गुदा या गुदप्रणाली को ३ पेशियां घेरे हुए हैं—गुदोत्तोलनी[1], बाह्य और आन्तर गुदसंकोचनी पेशियां[2]। ये पिछली दो पेशियां गुदप्रणाली के चारों ओर एक छल्ला सा बना देती हैं।

मलाशय में अन्दर की ओर कुछ पार्श्वीय मोड़ हैं, जहां से अन्दर की ओर श्लेष्मकला की कुछ आड़ी पड़ी हुई सलवटें अन्दर का प्रणाली में उभरी रहती हैं—इन्हें गुदवलियां[3] कहते हैं। ये संख्या में तीन हैं। कइयों में ये वलियां दो और कइयों में चार या पांच भी होती हैं। इनमें से प्रथम वलि तो सब से ऊपर मलाशय के प्रारम्भ के पास ही दाईं ओर को लगी हुई है। दूसरी वलि त्रिकप्रदेश के मध्य की सतह पर मलाशय में बाईं ओर से उभरी हुई है। तीसरी वलि सबसे बड़ी है और मजबूत तथा स्थिर है; यह मूत्राशय के मध्यभाग की सतह पर मलाशय के अग्रभाग (अगली दीवार) में पीछे की दिशा में उभरी हुई है। यदि चौथी भी उपस्थित हो तो वह गुदा से १ इञ्च ऊपर गुदप्रणाली की बाईं और पिछली दीवार से भीतर को स्थित होती है। इन वलियों की चौड़ाई १२ मिलीमीटर (आध इञ्च या

---

१. Levator Ani.

२. External and Internal Anal Sphincters.

३. Houston's Valves.

पौन अंगुल) होती है। सम्भवतः ये गुदवलियां मलपदार्थ के भार को सँभालने (थामने) के लिये हैं, और इसी लिये एक दूसरे को ढकती हुई स्थित हैं। अन्यथा इन की अनुपस्थिति में मल मलाशय के अन्दर पहुँचते ही गुदाद्वार पर सीधा दबाव डाल देता, और फलतः बिना तत्काल मलत्याग किये निस्तार नहीं होता।

प्राचीन आयुर्वैदिक अन्वेषकों के कथनानुसार[1] गुदा बृहदन्त्र का अधोभाग है। इस गुदा की लम्बाई ४½ अंगुल

---

1. "गुदः स्थूलान्त्रसंश्रः ॥ अर्धपंचांगुलस्तस्मिंस्तिस्रोऽध्यर्धांगुलाः स्थिताः। वलयः प्रवाहणी तासामन्तर्मध्ये विसर्जनी ॥ बाह्या, संवरणी तस्या गुदौष्ठो बहिरंगुले। यवाध्यर्धः प्रमाणेन रोमाण्यत्र ततः परम् ॥" (अष्टांगहृदय। निदान। ७। ४-५।)।

"तत्र स्थूलान्त्रप्रतिबद्धमर्धपंचांगुलं गुदमाहुः। तस्मिन् वलयस्तिस्रोऽध्यर्धांगुलान्तरसम्भूताः प्रवाहणी विसर्जनी संवरणी चेति ॥ चतुरंगुलायताः सर्वास्तिर्यगेकांगुलोच्छ्रिताः। शंखावर्तनिभाश्चापि उपर्युपरि संस्थिताः॥ गजतालुनिभाश्चापि वर्णतः संप्रकीर्तिताः। रोमान्तेभ्यो यवाध्यर्धो गुदौष्ठः परिकीर्तितः॥" (सुश्रुत। निदान। २।४-७।)

"गुदवलित्रये सार्धचतुरंगुलं गुदस्य मानम्। तदंगावयवभूतास्तिस्रो वलयः शंखावर्तनिभा उपर्युपरि सन्ति। तासां नामानि प्रवाहणी विसर्जनी संवरणी चेति। तत्र गुदौष्ठोऽर्धांगुलमानस्तदूर्ध्वमंगुलमाना प्रथमा वलिः, सार्धैकांगुलमाना द्वितीया, तृतीया च तावती ॥ अर्धांगुलप्रमाणेन गुदौष्ठं परिचक्षते। गुदौष्ठादंगुले चैकं प्रथमां तु वलिं विदुः॥ सार्धैकांगुलमानेन पृथगन्ये प्रकीर्तिते ॥" (भावप्रकाश मध्य०। अर्शो०।)

(३॥ इञ्च) है। इसमें ३ वलियां इसके ही अङ्गुल में स्थित हैं। इन वलियों का सादृश्य शंख के एक दूसरे पर स्थित आवर्तों (मोड़ों, पेचों) से हो सकता है। इनके नाम हैं प्रवाहणी, विसर्जनी और संवरणी। प्रवाहणी सब से ऊपर है, इससे १॥ अङ्गुल (१ इञ्च से कुछ अधिक) नीचे विसर्जनी है, इससे १॥ अङ्गुल नीचे संवरणी है, इससे एक अङ्गुल (पौन इञ्च) नीचे गुदौष्ठ (गुदद्वार)[1] है, वहां से आध अङ्गुल नीचे रोमान्त-प्रदेश है जहाँ गुदा की श्लेष्मकला बाह्य त्वचा से मिलती है। सब वलियां मिलाकर चार अङ्गुल के प्रदेश में, तिरछी, एक अङ्गुल उभरी हुई और शंख के पेच की तरह एक पर एक स्थित होती हैं। इनका रङ्ग हाथी के तालु के समान होता है।

'प्रत्यक्षशारीर' के अनुसार इनमें से प्रथम गुदवलि को मलप्रवाहण करने के विचार से प्रवाहणी कहते हैं, दूसरी को गुदा को विस्तृत करके मलत्याग करने के कारण विसर्जनी कहते हैं, और तीसरी वलि वास्तव में तो पूर्वोक्त बाह्य और आन्तर गुदसंकोचनी पेशियों के द्वारा गुदा के चारों ओर बना हुआ छल्ला है, जिसे संकोचन कार्य के विचार से संवरणी वलि कहा गया है।[2]

---

1. Anal orifice.

२. "प्रथमवलिश्चक्रोपस्थितभागेन मलस्याधःपीडनात्प्रथमा प्रवाहणी। गुदविस्फारणेन मलविसर्जनाद् द्वितीया विसर्जनी। गुदसंकोचक[illegible]पेशीद्वयकृता वलयाकारा वलिस्तु संवरणीनाम॥" (प्रत्यक्षशारीर)।

कुछ भी हो, यह स्पष्ट और परीक्षित है (जैसा कि अभी हम आगे भी स्पष्ट करेंगे) कि गुदा के इस बलि प्रदेश में रक्त-संचार पर्याप्त होता है, यहां की शिरायें लम्बाई के रुख होती हैं, उनमें कपाटियाँ नहीं होतीं और दृढ़ पेशियाँ भी नहीं होतीं, फलतः इस गुदवलिप्रदेश (चार अङ्गुल परिमित) में मिथ्या आहार-विहार आदि से, मलबन्ध से तथा अन्य कारणों से जब भी भार आ पड़ता है, तो भीतर स्थित रक्तप्रवाह प्रतिरुद्ध होकर इसी प्रदेश में वे शिरायें प्रतिरुद्ध रक्त के कारण आध्मात और कुटिल हो जाती हैं, जिन्हें अर्श या बवासीर के मस्से कहा जाता है।—और इस लिये मुख्यतः इन वलियों को ही प्राचीन अन्वेषकों ने अर्शोरोग का आधार बताया है।[1]

मलाशय और गुदप्रणाली के भी बाकी आँत की तरह आड़ी दिशा में चार ही स्तर होते हैं—श्लैष्मिक[2], अधःश्लैष्मिक[3], पेशीमय[4], और बहिःकलामय[5] स्तर। इनमें से प्रथम और द्वितीय स्तरों से ही हमारा सम्पर्क है। प्रथम अर्थात् श्लैष्मिक-स्तर में विविध लसीका-ग्रन्थियां हैं, बृहदन्त्र की अपेक्षा यहाँ पर यह स्तर स्थूलतर और अधिक रक्तमय है तथा अधिक ढीले रूप में पेशीमयस्तर से जुड़ा हुआ है। इस स्तर में गुदौष्ठ के

---

1. "सर्वेषामर्शसां क्षेत्रं गुदस्यार्धपंचमांगुलावकाशे त्रिभागान्तरिता स्तिस्रो-गुदवलयः। क्षेत्रमिति देशः।" (चरक। चिकि. ।१४। ६।)

२-५. Mucous-Submucous-Muscular and Rectal Serous Coats.

पास रोमान्त (त्वचा और श्लेष्मकला की सन्धि वाले) प्रदेश में कई अर्धचन्द्राकार सलवटों की शृङ्खला है, जिसे गुदौष्ठ को बन्द रखने के कारण गुदकपाट[1] कहते हैं। प्रायः इस प्रदेश में बाह्यार्श की उपस्थिति हुआ करती है।

मलाशय और गुदा का रक्तसञ्चार इस प्रकरण में अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रदेश की धमनियाँ ऊर्ध्वा-मध्यमा और अधरा गुदान्तिका[2] हैं। अपनी विभिन्न शाखाओं द्वारा ये तीनों प्रकार की धमनियाँ मलाशय और गुदा के अन्दर प्रचुर मात्रा में रक्त पहुंचाती हैं।

इस प्रदेश में शिराओं का प्रबन्ध इस प्रकरण की दृष्टि से सब से अधिक महत्वपूर्ण है। मुख्यतः दो प्रकार की शिरायें मलाशय और गुदा-प्रदेश में हैं—ऊर्ध्वा और अधरा गुदान्तिका शिरायें[3]। मलाशय के निम्नभाग तथा गुदा के ऊर्ध्वभाग में अधःश्लैष्मिकस्तर के अन्दर जो रक्तवाहिनियों का जाल है, वहां से ऊर्ध्वा गुदान्तिका शिरा निकलती हैं और अधिकतया इसी स्तर में रहती हुई वे ऊपर यकृत को जाने वाली प्रतिहारिणी सिरा[4] में जा मिलती है-इनमें कपाट भी नहीं हैं। उधर गुदप्रणाली के निम्न भाग से अधरा गुदान्तिका शिरायें निकल कर सीधी हृदय को जाने वाली महाशिरा में जा मिलती हैं।

१. Anal Valves.

२. Superior-Middle and Inferior Hæmorrhoidal Arteries.

३. Superior and Inferior Hæmorrhoidal Veins.

४. Portal Vein.

अर्थात् इस प्रदेश से रक्त सीधा भी हृदय में लौटता है और यकृत् में से होता हुआ भी। यकृत् में यदि कोई विकार (यथा यकृत्-काठिन्य[1], यकृत्-श्वयथु[2] आदि) हो या प्रतिहारिणी महासिरा में अन्य किसी कारण से कोई बाधा उपस्थित हो जावे तो मलाशय का दूषित रक्त ऊपर नहीं लौट पाता और फलतः उसके मलाशय में ही प्रतिरुद्ध होजाने से मस्से बन जाते हैं। यकृत् के उत्तेजक पदार्थ खाने से भी यही परिणाम निकलता है। इसी विकार की कठिनाई को कम करने के लिये इस रक्त के कुछ भाग का सीधे हृदय में लौटना एक प्रकार से वरदान है। तथापि यदि कठिन आसन पर बैठा जावे, लगातार बैठे रहने या खड़े रहने का मौका पड़े, तीव्र विरेचक (विशेषतः एलुआ आदि) लिये जावें तो इन दोनों ही प्रकार की शिराओं में रक्त रुक कर इस प्रदेश में मस्से बन जाते हैं।

आयुर्वेद में अर्शोरोग को अधिमांस का रोग माना गया है[3]। 'अधिमांस' का अर्थ है,-मांसमय स्तर के समीप का धातु या तन्तु। इस प्रकार का धातु या तन्तु अधःश्लैष्मिकस्तर ही अधिक सम्भव है। अर्थात् यह रोग अधःश्लैष्मिकस्तर का है। वास्तव में इस अधःश्लैष्मिकस्तर (मलाशय वाले) में ही उपरोक्त दोनों प्रकार की प्रमुख गुदा-

---

१. २. Cirrhosis and Congestion of the Liver.

३. "अर्शांसीत्यधिमांसविकाराः।" (च०। चि०।१४।४।)

"केचित्तु भूयांसमेव देशमुपदिशन्त्यर्शसाम् —शिश्नमपत्यपथं गलतालु-मुखनासिकाकर्णाक्षिवर्त्मानि त्वक् च। तदस्त्यधिमांसदेशतया। (च०। चि०।१४।६।)

न्तिका शिरायें स्थित हैं, जिनमें होने वाले इस रोग का आरोप इस अधःश्लैष्मकस्तर में सामीप्य या आधार सम्बन्ध से किया गया है, और इस रूप में इसे 'अधिमांसज गुदवलिरोग' रूप में उपदेश किया गया है।

अधःश्लैष्मिकस्तर में ही मेदस् (Adipose Tissue), त्वचा के निचले स्तर तथा मांसमयतन्तु के कुछ उथले स्तर भी (पेश्यावरण के रूप में) सम्मिलित होने के कारण इस रोग को मेदस् , मांस और त्वचा का भी सामीप्य सम्बन्ध से माना गया है[१]। यों, गुदार्श के अलावा अन्य स्थानों के अर्शों का अधिष्ठान मेदस्-मांस और त्वचा में वस्तुतः होता भी है।

देश या क्षेत्र की दृष्टि से यह रोग सभी देशों में, सभी भूमियों में, सभी वातावरणों में, सभी आयुओं में तथा दोनों लिंगों में पाया जाता है। बल्कि, यों कहना चाहिये कि संसार में विरला ही कोई ऐसा मनुष्य होगा जो कि जीवन भर में इस अर्शोरोग के किसी न किसी रूप से व्यथित न हो[२]। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों को यह रोग अधिक होता है और बच्चों तथा वृद्धों की अपेक्षा मध्यम आयु वालों को अधिक होता है।

---

१. "सर्वेषां चार्शसामधिष्ठानं मेदो मांसं त्वक् च।" (च०।चि०।१४।६।)
"सर्वेषां पुनरधिष्ठानं मेदो मांसं त्वक् च।" (अष्टांगसंग्रह।निदान।७।३।).

२. "So common are piles that probably few persons pass through life without suffering in some degree from this affection."—Encyclopædia Medica.

प्रकार*

अर्शोरोग के अनेक प्रकार हैं। दृष्टिभेद से इस रोग के प्रकारों की संख्या बहुत बढ़ जाती है। सामान्यत: मोटे तौर पर इसके सहज[१] और उत्तरकालज[२] ये दो भाग किये जा सकते हैं[३]। स्थानभेद की दृष्टि से इसे हम बाह्य[४] और आभ्यन्तर[५] इन दो प्रकारों में बाँट सकते हैं।

सहज का अर्थ है, जन्म से पूर्व ही शिशु का इस रोग से पीड़ित होना। अर्थात् इस रोग की कारणरूप कुलजप्रवृत्ति मानी जाती है, इसी लिये सुश्रुत ने समूचे अर्शोरोग को ही आदिबलप्रवृत्त व्याधियों में गिना है[६]। ऐसे रोगियों के गर्भ में अविर्भाव से पूर्व उनके निर्मापक माता पिता के डिम्ब और शुक्राणु में गुदवलियों का उत्पादक भाग निर्बल और विकृत होता है; और इस बीजविकृति का कारण भी माता पिता के द्वारा

---

१. Inherited. २. Acquired.

३. "समासतस्तु द्विविधान्यर्शांसि सहजानि जन्मोत्तरकालजानि च।", (अ० सं० । नि० ।७।३।) "द्विविधान्यर्शांसि सहजानि कानिचित्, कानिचिज्जातस्योत्तरकालजानि।" (च० चि० १४।५।). "सहजन्मोत्तरोत्थानभेदाद्द्वेधा समासतः।" (अ० हृ० ।नि०।७।३।)

४.५. External and Internal Piles.

६. "तत्रादिबलप्रवृत्ता ये शुक्रशोणितदोषान्वयाः कुष्ठार्शःप्रभृतयः।" (सु० सू०।२४।५।)

* Varieties.

किया हुआ मिथ्या आहार विहार होता है, या पूर्वकृत कर्म होता है, या कुलज अनुवृत्ति होती है।[1]

उत्तरकालज का अर्थ है, जन्म के बाद किन्हीं कारणों से अर्श का उत्पन्न होजाना। इसके पुनः ६ भेद हैं—वातज, पित्तज, कफज, द्वन्द्वज, सन्निपातज और रक्तज।[2] कभी कभी द्वन्द्वज प्रकार के बजाय सहज की गिनती करके भी इस रोग के कुल ६ ही भेद माने जाते हैं।[3]

गुदौष्ठ के बाहर जो रोमान्त प्रदेश है, जहाँ गुदा की श्लेष्मकला बाह्य त्वचा से मिलती है, उस स्थान की सतह से यदि अर्श नीचे हो तो उसे बाह्य अर्श कहते हैं। ये मस्से अपनी

---

१. "तत्र (सहजे) बीजं गुदवलिबीजोपतप्तमायतनमर्शसां सहजानाम्। तत्र द्विविधो बीजोपतप्तौ हेतुर्मातापित्रोरपचारः पूर्वकृतं च कर्म; तथाऽन्येषामपि सहजानां विकाराणाम्। तत्र सहजानि सह जातानि शरीरेण॥" (च०।चि०।१४।५।). "तत्र सहजानां गुदवलिबीजोपतप्तिरायतनम्। तस्या द्विविधो हेतुर्मातापित्रोरपचारो दैवं च॥" (अ०सं०। नि०।७।६।)

२. "अथेतराणि षड्विधानि पृथग्दोषैः संसृष्टैः सन्निपतितैः शोणितेन च।" (अ०सं०।नि०।७।८।). "षोढाऽन्यानि पृथग्दोषसंसर्गनिचयास्रतः।" (अ०हृ०।नि।७।१।)

३. "वातात्पित्तात्कफाच्चैव सन्निपातात्तथैव च। सहजानि च रक्ताच्च षोढाऽर्शांस्यथ देहिनाम्।" (भेल०।चि०।१५।१।) । "षडर्शांसि भवन्ति वातपित्तकफशोणितसंन्निपातैः सहजानि चेति॥" (सु०।नि०।२।२।) "अर्शांसि षड्विधान्याहुर्वातपित्तकफास्रतः। सन्निपाताच्च संसर्गात्।" (शार्ङ्गधर।प्रथम०।७।१२।).

स्थिति के कारण वास्तविक त्वचा से ढके होते हैं। गुदप्रणाली के इस प्रदेश की शिरायें छोटी हैं और ऊपर के गुदान्तिका वाहिनियों के जाल तथा नीचे गुदा की परिवर्ती शिराओं के बीच संयोजक का काम करती हैं,—अतः उन दोनों प्रान्तों में यदि कहीं पर कोई रुकावट पड़ जाती है तो ये मस्से सूज जाते हैं। इस बाह्यार्श के भी दो भेद हैं—प्रथम तो आभ्यन्तर अर्श से संयुक्त होने के कारण मिश्रित अर्श[1] कहाते हैं, क्योंकि तब अन्दर वाले मस्से नीचे को फूलते हुए गुदा से बाहर चारों ओर एक मखमली छल्ला सा बनाकर उभर आते हैं। इस भेद का कारण वही होता है जो कि आभ्यन्तर अर्श का है, तथा चिकित्सा भी वही है। द्वितीय भेद में मस्सा रोमान्त प्रदेश में ही शिरा में खून के थक्का बनकर जम जाने के कारण बनता है, जो गुदा के किनारे पर या तो किसी प्रतिरुद्ध और आध्मात शिरा के फटने से गोल रक्तगुल्म के रूप में बनता है या फिर गुदा के चारों ओर की विस्तृत शिरा में रक्त जमने से होता है[2]।

आभ्यन्तर अर्श सदा गुदप्रणाली में या उससे ऊपर अर्थात् अदृश्य रूप में स्थित होते हैं। गुदप्रणाली के ऊर्ध्वभाग में तथा मलाशय के निम्नभाग में श्लेष्मकला के पास शिराजाल में इन मस्सों का प्रारम्भ होता है।

बाह्य और आभ्यन्तर को क्रमशः बाहर दीखने और न दीखने के कारण भेलसंहिता में दृश्य और अदृश्य नाम से कहा

---

१. Mixed Piles.

२. Thrombo-phlebitic Piles = रक्तगुल्मसदृश अर्श।

गया है।[1]

वातज आदि छहों भेदों में अलग-अलग यद्यपि तीनों ही दोषों का प्रकोप रहा करता है[2], पर उल्बण भेद से उनकी वातज आदि संज्ञा रखी गई हैं[3]। वास्तव में तो इन सभी उत्तर-कालज भेदों में भी एक सहज कुलज प्रवृत्ति इस रोग की हुआ करती है[4], और इस प्रकार इन्हें भी 'सहज' में ही गिनना चाहिए, परन्तु अभिव्यक्ति की दृष्टि से सहज और उत्तरकालज ये ही दो भेद किये गये हैं।

स्राव की दृष्टि से भी इस रोग के दो भेद हैं[5]--शुष्क[6] और परिस्रावी[7]। वास्तव में ये भेद भी दोषों के अनुसार ही

---

१. "अदृश्यानां च यत्प्रोक्तं दृश्यानां च यथाक्रमम्।" (भेल०। चि०। १५।२।)

२. "पंचात्मा मारुतः पित्तं कफो गुदवलित्रये। सर्व एव प्रकुप्यन्ति गुद-जानां समुद्भवे॥" (च०।चि०।१४।२४।)

३. "अर्शांसि खलु जायन्ते नासन्निपतितैस्त्रिभिः। दोषैर्दोषविशेषात्तु विशेषः कथ्यतेऽर्शसाम्॥" (च०।चि०।१४।२५).

४. "आदिबलप्रवृत्तास्तु ये शुक्रशोणितदोषान्वयाः कुष्ठार्शःप्रभृतयः।" (सु० सू४।२४।५।).

५. "शुष्कस्रावविभेदाच्च।" (अ० हृ० ।नि०।७।३।)
"तथा शुष्कार्द्रभेदतः।" (शार्ङ्ग०।प्रथम०।७।१३।).
"तानि च द्विविधानि, शुष्काणि आर्द्राणि च"। (अ० सं०।नि०।७।३।)

६.७.Simple and Bleeding Piles.

किये गये हैं—शुष्कार्श तो वातकफप्रधान होते हैं[1], और परिस्रावी (रक्तस्रावी) अर्श पित्तरक्तप्रधान[2]। शुष्क को बाह्य और परिस्रावी को आभ्यन्तर भी कहते हैं।

इस प्रकार अर्श के निम्नलिखित प्रकार या भेद हुए—:

कारण और सम्प्राप्ति

इस रोग के कारण दो प्रकार के हैं—विप्रकृष्ट और सन्निकृष्ट। प्रथम अर्थात् विप्रकृष्ट कारण भी दो प्रकार के हैं—

१, २. "वातश्लेष्मोल्वणान्याहुः शुष्काण्यर्शांसि तद्विदः। प्रस्रावीणि तथार्द्राणि रक्तपित्तोल्वणानि च॥" (च०।चि०।१४।३८।)।

"तत्र वातश्लेष्मोत्तराणि शुष्काणि रक्तपित्तोत्तराण्यार्द्राणि।" (अ० सं०।नि०।७।६।)

सामान्य और विशेष। सामान्यतः इस रोग की कुलज प्रवृत्ति इस रोग वालों में अवश्य पाई जाती है। इसीलिये सुश्रुत ने इसे आदिबलप्रवृत व्याधियों में गिना है। वास्तव में, अर्श में जिस प्रकार की सिराविकृति या सिराकुटिलता (Varix or Varicosity) पाई जाती है, उस प्रकार की सिराविकृति उत्पन्न होने के लिये सिराओं की आदिबलप्रवृत्त रचनाविशेषता और दीवार की निर्बलता ही मुख्य कारण होता है[१]। अतः इस रोग को आदिबलप्रवृत्त मानना ही पड़ेगा।

---

१. "Piles consist in a varicose condition of the veins surrounding the anus or lower inch or two of the rectum'. (in 'Piles'). ।......'Varix is possibly due to some inherited weakness of the venous wall, or irregularity in the arrangement of the valves,......though this may produce no ill-effect until some exciting cause comes into action. The facts that varix sometimes appears quite early in life and without adequate cause and often involves the same vein in different members of the same family, confirm this statement (inherited weakness of the venous walls).' (in 'Varix')"—Rose & Carless's Manual of Surgery.

इस प्रदेश में रक्तसंचार का एक विशिष्ट प्रकार का प्रबन्ध होने से भी अर्श की उत्पत्ति सम्भव होती है। बाकी सारी आँत के विपरीत मलाशय में रक्तवाहिनियाँ लम्बाई के रुख हैं, जिन्हें आड़ी शाखायें जोड़ती हैं और इस प्रकार गुदा से ठीक ऊपर उसके चारों ओर एक जाल सा बना देती हैं—ऐसा हम देख चुके हैं। प्रतिहारिणी महासिरा में जा मिलने वाली इस प्रदेश की (ऊर्ध्वा गुदान्तिका) शिराओं में कपाटियाँ नहीं हैं, और गुरुताकर्षण के कारण गुदान्तिक-शिराजाल में रक्तप्रतिरोध प्रायः बना रहता है। शिराओं का मुख्य प्रवाह ऊपर को है, और काफी दूर तक उर्ध्वा गुदान्तिका शिरायें श्लैष्मिक और अधःश्लैष्मिकस्तर के बीच में अर्थात् शिथिल वातावरण में रहती हैं—बल्कि निराश्रय खड़ी हैं। ठोस मल मलाशय में रहकर इन शिराओं का निकास (प्रवाह) रोक देता है। मलत्यागार्थ उदीरण (विशेषतः तब जबकि गुदा की पेशियाँ शिथिल हों, और निचली धारकशक्ति न बची हो)—इससे शिराओं के गुदान्तिक-जाल पर बड़ा भारी ज़ोर पड़ेगा ही। फलतः मलत्याग से पहले और पीछे इनपर यकायक भार आ पड़ता है। फिर प्रतिहारिणी महासिरा के निम्नतम भाग में इनका निकास पराधीन-सा होकर रहता है, कपाटियाँ भी इन में नहीं हैं। इसलिये यकृत् के वातिक काठिन्य (Hepatic Cirrhosis)से और हृदयरोग से भी इस प्रदेश की शिराओं के निकास में अपूर्णता रहती है, और फलतः कइयों में अर्श हो जाता है। इसी प्रकार उदर के भीतरी भार को बढ़ाने वाली अवस्थायें तथा आँतों की निचली शिराओं पर सीधा दबाव डालने वाली (यथा बस्तिगुहा के बड़े अर्बुद, सगर्भावस्था आदि) अवस्थायें भी इसी प्रकार अर्श

कर देती हैं। ये सब रचनायें ही इस रोग का विप्रकृष्ट कारण बनी रहती हैं।

साथ ही, आरामपसन्द जीवन, मद्य का अतिसेवन (जिससे यकृत्-काठिन्य होकर प्रतिहारिणी महासिरा और फलतः मलाशय के रक्त का प्रवाह एवं निकास प्रतिरुद्ध हो जायगा), जीर्ण मलबंध इत्यादि अवस्थायें भी अर्श का विप्रकृष्ट कारण बनती हैं।

आयु का भी इसपर प्रभाव है। युवावस्था में, विशेषतः युवकों को यह रोग बहुत होता है। सामान्यतः २० वर्ष की आयु के आस-पास आरामपसन्द पुरुषों का हो जाता है। मध्य आयु तक यह प्रवृत्ति घटती जाती है। परन्तु वृद्धों में अष्ठीला-ग्रन्थि की वृद्धि[१] इत्यादि कारणों से यह रोग हो जाता है। मलाशय में अर्बुद आदि हो या कोई व्रणबन्ध[२] हो तो भी यहाँ के रक्त के निकास (प्रवाह) में बाधा पड़कर यह रोग हो जाता है। युवतियों को सम्भवतः मासिक स्राव की नियमित प्रवृत्ति होते रहने के कारण प्रायः नहीं होता। परन्तु गर्भावस्था, गर्भाशय-अर्बुद, गर्भाशयभ्रंश इत्यादि से उनमें भी यह रोग हो जाता है।

कर्मविपाक भी इस रोग का विप्रकृष्ट कारण माना जाता है। वेतन देकर पढ़ने से, तथा वेतन लेकर पढ़ाने-यज्ञ कराने-जप करने इत्यादि से भी कर्मविपाक द्वारा अर्शोरोग होता माना जाता है[३]। शातातपस्मृति के अनुसार अर्शोरोग

---

१. Enlargement of the Prostate Gland.

२. Stricture.

३. "दत्त्वाथ वेतनं योऽध्येत्यादायापि च वेतनम्। अध्यापयेच्च जुहुयाज्जपेद्वाऽर्शोयुतो भवेत्॥"

अत्यन्त पाप के कारण होता है ।१

ये सब अर्शोरोग के सामान्य विप्रकृष्ट कारण हैं ।

विशेष विप्रकृष्ट कारण वातादि के पृथक्-पृथक् होते हैं ।

वातार्श के विप्रकृष्ट कारण—कषाय-कटु-तिक्त - रूक्ष - शीत-लघु पदार्थों का सेवन, अल्पाशन, अतिभोजन, तीक्ष्णमद्य-मैथुन का अतिसेवन, बहुत कूद-कूद कर चलना, शीतल स्थानों और शीतकाल का सेवन, व्यायाम का अति सेवन, शोक, वात और धूप का अतिसेवन,—इत्यादि कारणों से वातार्श हो जाता है ।२

पित्तार्श के विप्रकृष्ट कारण—कटु-अम्ल-लवण-उष्ण-व्यायाम - अग्नि - धूप-उष्णदेशकाल -क्रोध-मद्य - परदोषान्वेषण-विदाहि–तीक्ष्णोष्णपदार्थ (अन्नपानभोजनादि) के सेवन से वातार्श हो जाता है ।३

कफार्श के विप्रकृष्ट कारण—मधुर-स्निग्ध-शीत-लवण-अम्ल-गरिष्ठ पदार्थ-अपरिश्रम-आलस्य-दिवास्वप्न-लेटे या बैठे रहना (Sedentary life)-पूर्वीयवायु-शीतलदेशकाल-बेफ़िक्री, इत्यादि से कफार्श हो जाता है ।४

---

१. "अर्शआद्या महारोगा अतिपापाद्भवन्ति हि ।" (शातातपस्मृति) ।

२. "कषायकटुतिक्तानि रूक्षशीतलघूनि च । प्रमितात्यशनं तीक्ष्णमद्यमैथुन-सेवनम् ॥ लंघनं देशकालौ च शीतौ व्यायामकर्म च । शोको वाता-तपस्पर्शो हेतुर्वातार्शसां मतः ॥" (च० । चि०।१४।१२-१३।)

३. "कट्वम्ललवणोष्णाश्च व्यायामाग्न्यातपप्रभाः । देशकालावशिशिरौ क्रोधो मद्यमसूयनम् ॥ विदाहि तीक्ष्णमुष्णं च सर्वं पानान्नभेषजम् । पित्तो-ल्वणानां विज्ञेयः प्रकोपे हेतुरर्शसाम् ॥" (च० । चि०।१४।१५-१६।)

४. "मधुरस्निग्धशीतानि लवणाम्लगुरूणि च । अव्यायामो दिवास्वप्नः शय्यासनसुखे रतिः ॥ प्राग्वातसेवा शीतौ च देशकालावचिन्तनम् । श्लैष्मिकाणां समुद्दिष्टमेतत्कारणमर्शसाम् ॥" (च०।चि०।१४।१८-१९।)

त्रिदोषार्श के विप्रकृष्ट कारण—तीनों दोषों के प्रकोपक कारणों के अतिमात्रा में एकत्र होकर कार्य करने से तीनों दोषों के प्रकोप से युक्त अर्शोरोग हो जाता है[1]। यद्यपि वात पित्त कफ में से कोई एक या दो प्रकुपित होकर अपने ही कारणों से (उस प्रकोपयिष्यमाण दोष के कारणों से नहीं) इतर को भी प्रकुपित करके त्रिदोष-प्रकोप की अवस्था ला सकते हैं, और इस प्रकार प्रायः सभी रोग त्रिदोषज हो जाते हैं; परन्तु इस त्रिदोषज अर्श में तो तीनों ही दोष स्वतन्त्रतया अपने ही प्रकोपक कारणों से प्रकुपित होकर त्रिदोषार्श को उत्पन्न करते हैं।

रक्तार्श के विप्रकृष्ट कारण— पित्त प्रकोपक कारणों से ही रक्तार्श भी हो जाता है।

संन्निकृष्ट कारण—कई प्रकार के हैं-: १.प्रतिहारणी महासिरा में प्रतिरोध होने से स्पष्टतया अर्श उत्पन्न हो जाता है। इसप्रकार इस प्रतिहारिणी महासिरा में प्रतिरोध के जितने भी कारण हैं, वे सभी अर्श के भी कारण हैं। इसलिये अर्श का निदान करते समय इस प्रतिरोध के अन्य लक्षणों को भी ढूंढना चाहिये, जिनके पा जाने पर अर्श का निदान करने में बड़ी सुगमता होती है। लालमिर्च आदि कटु-तीक्ष्ण-उष्ण पदार्थों के सेवन से यकृत् में क्षोभ के कारण रक्तवृद्धि होकर यह प्रतिरोध हो जाता है और फलतः नीचे गुदा में अर्श के मस्से उभर आते हैं। (विदाहि तीक्ष्णमुष्णं च सर्वं पानान्नभेषजम्।)।

२. स्थिर मलबन्ध इस रोग का सबसे व्यापी कारण है। युवतियों में तथा छोटी आयु की स्त्रियों में जब-तब पुरीषवेग-

---

१. "सर्वो हेतुस्त्रिदोषाणां।" (च० । चि० ।१४। २०।)

धारण करते रहने से स्थिर मलबन्ध होजाता है और फलतः इस अपरित्यक्त मल के दबाव के कारण मलाशय की सिरायें फूल कर अर्श होजाता है। अन्य भी जो लोग पुरीषवेग का धारण करते हैं, या मलबन्ध से पीड़ित रहते हैं, उन्हें भी यह रोग इसीलिए होजाता है ('वेगविधारणादिभिः'—सुश्रुत । 'मलेऽतिनिचिते'—अष्टांगहृदय)।

३. मद्य के सेवन से प्रतिहारिणी महाशिरा में और फलतः यकृत् में रक्तवृद्धि या अध्मान हो जाता है, जिससे मलाशय की शिराओं के निकास में बाधा पहुंच कर अर्श हो जाता है। मद्य के अति सेवन से यकृत् का वातिक काठिन्य (Cirrhosis of of the Liver) होकर भी वही परिणाम होता है, और अर्श हो जाता है। ('तीक्ष्णमद्यमैथुनसेवनम्'-चरक)।

४. 'अव्यायामो दिवास्वप्नः शय्यासनसुखे रतिः' (चरक)। आराम और बेफ़िक्री ('अचिन्तनम्'—चरक) में पड़े रहना। आराम की ज़िन्दगी बसर करना। मेहनत से बचना।

५. अनेक स्थानीय अवस्थायें, यथा--शीतल आसन पर बैठना ('शीतौ च देशकालौ'—चरक), या नरम गद्दों पर बैठना ('शय्यासनसुखे रतिः'—चरक)—इनसे अधरा गुदान्तिका शिरायें सिकुड़ जाती हैं, फलतः उनका निकास ठीक न होने से अर्श हो जाता है; गर्भाशयभ्रंश; सगर्भावस्था; मलाशय में या बस्तिगह्वर में अर्बुद आदि हो जाना—इन सब से भी अर्श की उत्पत्ति होती है। हृद्रोग से स्थानीय रक्तरोध होकर भी अर्श हो जाता है।

ये पाँचों ही सन्निकृष्ट कारण कभी कभी विप्रकृष्ट रूप में भी अर्शोरोग के कारण हुआ करते हैं; अतः उस प्रकरण में भी हमने इन्हें देखा है।

संक्षेप में, अर्शोरोग के कारण निम्नलिखित हैं—:

सम्प्राप्ति—उपर्युक्त विप्रकृष्ट कारणों से शरीर की अग्नि क्षीण हो जाती है, और फलतः मलपदार्थों का संचय बढ़ जाता है। इस अवस्था में अतिमैथुन से, गाड़ी-आदि में बैठने से हुए क्षोभ से, कठिन और विषमासन पर और उकड़ूं होकर अधिक बैठने से, गुदाद्वार पर या मलाशय में पत्थर-मिट्टी-ढेला-कंकर-भूमितल बस्तिनेत्र-वस्त्र आदि की रगड़ लगने से, अतिशीतल जल गुदप्रदेश में लगने से, लगातार अत्यधिक मलप्रवाहण करने से (यथा एलुआ आदि तीव्र विरेचकों के द्वारा या मलवेगप्रवाहणों के द्वारा), वात-मूत्र-मल के वेगों को रोकने या बलात् प्रवृत्त करने से, ठण्डे और गीले पत्थर पर बैठने से, अतिमद्यादि (जिससे यकृत् में रक्तवृद्धि अकस्मात् हो सकती है) से, ज्वर-अतिसार-ग्रहणी-पाण्डु आदि जीर्ण रोगों के द्वारा शरीर के (विशेषतः मलाशय की रक्तवाहिनियों की दीवारों के) अतिक्षीण हो जाने से, विषम आहारविहारादि से बस्ति प्रदेश में स्थित अपान वायु (अर्थात् तत्रत्य अंगों की धारणशक्ति) कुपित होकर उस समूचे मलपदाथ (पुरीष और दूषित रक्त) को गुदवलियों में रोक रखता है और उनके फूल जाने पर अर्श हो जाता है। स्त्रियों में कच्चा गर्भ गिराने से, गर्भवृद्धिकाल में बस्तिप्रदेश पर दबाव पड़ने से तथा अन्य ऐसे कारणों से भी पूर्वोक्तप्रकारेण अर्शोरोग हो जाता है।[1]

---

1. दोषप्रकोपहेतुस्तु प्रागुक्तस्तेन सादिते। अग्नौ, मलेऽतिनिचिते, पुनश्चातिव्यवायतः॥ यानसंक्षोभविषमकठिनोत्कटकासनात्। बस्तिनेत्राश्मलोष्टोर्वीतलचैलादिघट्टनात्॥ भृशं शीताम्बुसंस्पर्शात्प्रततातिप्रवाहणात्। वातमूत्रशकृद्वेगधारणात्तदुदीरणात्॥ ज्वरगुल्मातिसारामग्र-

पूर्वरूप

इसके पूर्वरूप भी दो प्रकार के होते हैं—स्थानीय और व्यापी।

हयोशोकपाण्डुभिः। कर्शनाद्विषमाभ्यश्च चेष्टाभ्यो, योषितां पुनः॥ आमगर्भप्रपतनाद् गर्भवृद्धिप्रपीडनात्। ईदृशैरपरैर्वायुरपानः कुपितो मलम्॥ पायोर्वलीषु तं धत्ते तास्वभिष्यण्णमूर्तिषु। जायन्तेऽर्शांसि॥" (अ० हृ० । नि० ।७।१०-१४।)

"गुरुमधुरशीताभिष्यन्दिविदाहिविरुद्धाजीर्णप्रमिताशनासात्म्यभोजनाद्-गव्यमात्स्यकौक्कुटवाराहमाहिषाजाविकपिशितभक्षणात् कृशशुष्कपूति-मांसपैष्टिकपरमान्नक्षीरदधिमन्दकतिलगुडविकृतिसेवनाच्च माषयूषेक्षु-रसपिण्याकपिण्डालुकशुष्कशाकशुक्तलशुनकिलाटतक्रपिण्डकबिसमृणा-लशालूककौञ्चादनकशेरुकशृंगाटकतरूटविरूढनवशूकशमीधान्यामामूल-कोपयोगाद् गुरुफलशाकरागहरितकमर्दकवसाशिरस्पदपर्युषितपूतिशात-संकीर्णान्नाभ्यवहरणान्मदकातिक्रान्तमद्यपानाद् व्यापन्नगुरुसलिलप-नादतिस्नेहपानादसंशोधनाद्बस्तिकर्मविभ्रमादतिव्यवायाद्दिवास्वप्नात् सुखशयनासनोपसेवनाच्चोपहताग्नेर्मलोपचयो भवत्यतिमात्रं, तथोत्कटु-कविषमासनसेवनादुद्भ्रान्तयानोष्ट्रयानादतिव्यवायाद्बस्तिनेत्रासम्यक्प्र-णिधानाद् गुदक्षणनादभीक्ष्णं शीताम्बुसंस्पर्शाच्चेललोष्टतृणादिघर्षणात् प्रततातिनिर्वाहणाद्वातमूत्रपुरीषवेगोदीरणात् समुदीर्णवेगविनिग्रहात्-स्त्रीणां चामगर्भभ्रंशाद्गर्भोत्पीडनाद्बहुविषमप्रसूतिभिश्च प्रकुपितो वायुरपानस्तं मलमुपचितमधोगमासाद्य गुदवलिष्वाधत्ते, ततस्तास्व-र्शांसि प्रादुर्भवन्ति॥" (च०।चि०।१४।६।)

"दोषास्त्वङ्मांसमेदांसि सन्दूष्य विविधाकृतीः। मांसांकुरानपानादौ कुर्वन्त्यर्शांसि तान् जगुः॥" (माधवनिदान) (भावप्रकाश)।

स्थानिक दृष्टि से, पहले तो मस्से गुदप्रणाली में बन्द रहने के कारण मलत्याग के समय बाहर नहीं निकलते और फलतः नहीं दीखते। इन पर आवरण लम्बोत्तर सेलों का होता है। मलत्याग में दबाव पड़कर ये फूलते हैं और प्रायः प्रारम्भ में फूटकर इनमें से रक्त भी निकलता है जो मल पर लगा होता है। द्वितीय अवस्था में जाकर विशेष पूर्वरूप कुछ स्पष्ट होने लगते हैं और इन मस्सों पर चपटे कोषों का कलामय आवरण बनकर ये कठिन और खर हो जाते हैं और इनमें से रक्तस्राव नहीं हुआ करता है-ये ही पूर्वावस्था में स्थित वातार्श है। इस अवस्था को जो मस्से पार कर जाते हैं, उनमें मलत्याग से उभार बढ़कर वे फट जाते हैं और उनमें से रक्तस्राव होता है, ये पित्तार्श है। यदि ये मस्से कठिन स्थिर गुरु और आध्मात हों तो कफार्श होंगे।

व्यापी पूर्वरूप भी अनेक प्रकार के हैं। मुख्यतः, अन्न का उदर में विष्टम्भ होना, शरीर निर्बल हो जाना, पेट में गुड़-गुड़ाहट ('आटोपो गडगुडाशब्दः प्रोक्तो जठरसम्भवः'-भाव-प्रकाश), देह क्षीण होना, डकार बहुत आना, जाँघों की जकड़ा-हट, मल न्यून और शुष्क आना, मस्सों में से अति रक्तस्राव हो जाने के कारण ग्रहणी या पाण्डुरोग की लक्षणों से प्रतीति होना या उदररोग होता हुआ प्रतीत होना—ये प्रमुख पूर्वरूप अर्शो-रोग के होते हैं।[1]

---

1. "विष्टम्भोऽन्नस्य दौर्बल्यं कुक्षेराटोप एव च। कार्श्यमुद्गारबाहुल्यं सक्थिसादोऽल्पविट्कता॥ ग्रहणीदोषपाण्डवर्तेराशंका चोदरस्य च। पूर्वरूपाणि निर्दिष्टान्यर्शसामभिवृद्धये॥" (च०।चि०।१४।२१-२२।)

इनके अतिरिक्त सामान्यतः अग्निमान्द्य, पिंडलियों में ऐंठन, चक्कर आना, शरीर में जकड़ाहट, नेत्र में शोफ, अतिसार (सड़ाँद के कारण) या मलबन्ध होना, पेट में नाभि से नीचे विकृत वायु (विष्टब्ध अन्न की सड़ाँद से बनी गैसों) के अति-संचार के कारण गुड़गुड़ाहट होना और उस वायु का गुदा को काटते हुए दर्द के साथ और शब्दपूर्वक कठिनता से त्याग होना, मूत्र का बहुत आना, मल न्यून आना, अन्न में अरुचि होना, अन्न की सड़ाँद से पैदा हुए ऐन्द्रियिक अम्लों के कारण खट्टे डकार आना ('अम्लकः') और धुआँ सा पेट से गले की ओर उठता प्रतीत होना ('धूमायनम'), सिर-पीठ और छाती में दर्द होना, आलस्य, शारीरिक वर्ण में परिवर्तन हो जाना, स्थायी तन्द्रा बनी रहना, इन्द्रियों की दुर्बलता, क्रोध बहुत आना—इत्यादि विकार भी भावी अर्शोरोग की सूचना देते हैं[1]।

---

1. "तत्पूर्वलक्षणं मन्दवह्निता ॥ विष्टम्भः सक्थिसदनं पिण्डिकोद्वेष्टनं भ्रमः। सादोऽङ्गे नेत्रयोः शोफः शकृद्भेदोऽथवा ग्रहः ॥ मारुतः प्रचुरो मूढः प्रायो नाभेरधश्चरन्। सरुक् सपरिकर्तश्च कृच्छ्रान्निर्गच्छति स्वनन् ॥ आन्त्रकूजनमाटोपः क्षामतोद्गारभूरिता। प्रभूतं मूत्रमल्पा विट्, अश्रद्धा धूमकोऽम्लकः ॥ शिरःपृष्ठोरसां शूलमालस्यं भिन्न-वर्णता। तन्द्रेन्द्रियाणां दौर्बल्यं क्रोधो दुःखोपचारता ॥ आशंका ग्रहणीदोषपाण्डुगुल्मोदरेषु च ॥" (अ०हृ०नि०।७।१६-२०।)
"तेषां तु भविष्यतां पूर्वरूपाणि—अन्नेऽश्रद्धा कृच्छ्रात्पक्तिरम्लीका परि-दाहो विष्टम्भः पिपासा सक्थिसदनमाटोपः कार्श्यमुद्गारबाहुल्यं अक्ष्णोः श्वयथुरन्त्रकूजनं गुदपरिकर्तनमाशंका पाण्डुरोगग्रहणीदोषो-दराणां कासश्वासौ बलहानिर्भ्रमस्तन्द्रा निद्रेन्द्रियदौर्बल्यं च ॥" (सु०।नि०।२।८).

लक्षण

अर्शोरोग के लक्षण मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं—सामान्य और विशेष। अर्शोरोग के विभिन्न वातिक आदि प्रकारों के पृथक्-पृथक् लक्षणों को विशेष लक्षण कहते हैं, बाकी सब सामान्य लक्षण कहाते हैं। इन्हीं दो प्रकार के लक्षणों में इस रोग के स्थानीय और व्यापी लिंगों की भी परिगणना हो जाती है। हम पहले सामान्य लक्षणों को ही लेंगे।

सामान्य लक्षण—पूर्वोक्त पूर्वरूप ही अधिक स्पष्ट होकर इस रोग के लक्षण (सामान्य) बन जाते हैं[1]। आयुर्वेदीय सिद्धान्त के अनुसार मलाशय और गुदा के मार्ग में तथा तत्रस्थ रक्त-संचार के प्रवाह में इन सब पूर्वोक्त कारणों से अवरोध की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। इस अवरोध के कारण बस्तिस्थ अंगों का नियामक अपानवायु कुपित होकर सारे शरीर में तथा इन्द्रियों में स्थित अन्य प्रकार के (चारों) वायुओं को भी क्षुब्ध कर देता है और मूत्र-पित्त-मल-कफ-धातु-आशय आदि को भी क्षुब्ध एवं विकृत कर देता है। परिणामतः अग्निमान्द्य[2] के साथ-साथ अर्शस् के लक्षण परिस्फुट हो जाते हैं। मलाशय

---

1. "जातेषु चैतानि लिंगानि प्रव्यक्ततराणि भवन्ति।" (अ० सं०। नि०। ७।१२।).

2. "तैः खल्वधोमार्गोपरोधाद्वायुरपानो निवर्तमानः समानव्यानोदान-प्राणान् पित्तश्लेष्माणौ च प्रकोपयन्ननलमुपमृद्नाति॥" (अ० सं०। नि०।७।१३).

और गुदा की शिराओं में इस कारण से जो विकृतिरूप विस्तार और कुटिलता पैदा होकर मस्से बनते हैं, उनके साथ-साथ सर्व-शारीरिक लक्षण किस प्रकार से उत्पन्न होते हैं, यही इस सिद्धान्त के द्वारा चित्रित किया गया है। इसके पश्चात् रोगी और अधिक क्षीण, हतोत्साह, दीन, हतप्रभ, एवं अशक्त होजाता है—ऐसा लगता है, मानों किसी हरे-भरे वृक्ष को कीड़ों ने खाकर छायारहित [छाया=छाँह (shadow), शरीर की कान्ति (Complexion of the body)—'छाया च वर्ण प्रभाश्रया', चरक] कर दिया हो। सभी प्रकार के कष्टप्रद उपद्रव उसे चिपट जाते हैं। खाँसी, प्यास, मुँह में विकृत स्वाद, श्वासरोग, पीनस-रोग (जुकाम का भेद) शरीर में क्लान्ति, अंग टूटना, वमन-प्रतीति–उबकाई, छींकें, ज्वर, पुंस्त्वहीनता, बहरापन, आँखों के आगे अन्धेरा छाना, मूत्र में शर्करा और अश्मरी बनना, स्वर क्षीण और फटा सा होना, चिन्ता, थूक बहुत आना, अरुचि, सब जोड़ों–हड्डियों–हृदयप्रदेश–नाभिप्रदेश–गुदा–वंक्षणदेश आदि में शूल होना, गुदा से लेसदार पदार्थ (आम, आंव, mucus) निकलना, मल सख्त या पतला-सूखा या गीला–पचा या अनपचा बारी-बारी से विभिन्न रूपों में आना, मल का रंग भी पीला–हरा या लाल होना, उसमें आम आना इत्यादि लक्षण होते हैं[1]।

---

1. "एतान्येव विवर्धन्ते जातेषु हतनामसु ॥ निवर्तमानोऽपानो हि तैरधो-मार्गरोधतः । क्षोभयन्ननिलानन्यान्सर्वेन्द्रियशरीरगान् ॥ तथा मूत्र-शकृत्पित्तकफान्धातूंश्च साशयान् । मृद्नात्यग्निं ततः सर्वो भवति प्रायशोऽर्शसः ॥ कृशो भृशं हतोत्साहो दीनः क्षामोऽतिनिष्प्रभः ।

स्थानीय रूप में, मलाशय और गुदा में सरसों-जौ-मूंग-छोटे बड़े बेर की गुठली–हाथ के अगूंठे आदि के बराबर के, ताँबे जैसे रंग वाले स्थिर या लटकते हुए (सवृन्त – Pediculated) एक या अनेक मस्से हो जाते हैं। इनके फट कर पुनः रूढ हो जाने पर गुदा में व्रणबन्ध (stricture) बन जाते हैं, जिनसे मल इत्यादि निरोध होकर गुदा में आनाह हो जाता है, फलतः दोषों और इस प्रतिरुद्ध मल की ऊर्ध्वगति होकर उपद्रव रूपमें अनेक लक्षण (उदावर्त आदि) खड़े हो जाते हैं[1]।

विशेष लक्षण—शुष्क-परिस्रावी-वातिक आदि भेदों के पृथक्-पृथक् लक्षण इसमें आते हैं।

असारो विगतच्छायो जन्तुजुष्ट इव द्रुमः॥ कृत्स्नैरुपद्रवैर्ग्रस्तो यथोक्तैर्मर्मपीडनैः। तथा कासपिपासास्यवैरस्यश्वासपीनसैः॥ क्लमांगभंगवमथुक्षवथुश्वयथुज्वरैः। क्लैब्यबाधिर्यतैमिर्यशर्कराश्मरिपीडितः॥ क्षामभिन्नस्वरो ध्यायन्मुहुः ष्ठीवन्नरोचकी। सर्वपर्वास्थिहृन्नाभिपायुवंक्षणशूलवान्॥ गुदेन स्रवता पिच्छां पुलाकोदकसन्निभाम्। विबद्धमुक्तं शुष्कार्द्रं पक्वामं चान्तरान्तरा॥ पाण्डु पीतं हरिद्रक्तं पिच्छिलं चोपवेश्यते॥" (अ० हृ०।नि०.७।२०-२७।).

1. "कीलास्तत्र प्ररोहन्ति सूक्ष्मसर्षपसन्निभाः। यवमुद्गादिनिष्पावककर्कन्धुबदरोपमाः॥ शरीरांगुष्ठमात्रा वा ताम्रा गोस्तनसंनिभाः। निरूढास्ते गुदे कीलाः स्तम्भयन्ति गुदं भृशम्॥ स्रोतसां गुदमानाहं मूलं बध्नन्ति वाप्यथ। निरोधात् स्रोतसां तेषामूर्ध्वं दोषाः समुत्थिताः॥ एकैकं दूषयित्वा तु रोगान्कुर्वन्ति चातुरान्॥" (भेलसंहिता).

वातार्श के लक्षण— मस्सों का रंग गदला साँवला-लाल सा होता है। इनका स्वरूप रूखा, विषम, सख्त और खुरदरा होता है। परिमाण बेर-खजूर-बिनौला या सरसों के बराबर होता है, कभी कभी (बहुत कम) तो कदम्ब के फूल के बराबर भी होता है। ये मस्से अनेक होते हैं; टेढ़े-मेढ़े तीखे, अनेकाकृति और फटे हुए होते हैं। इनके कारण सिर-पसलियों-कन्धों-कमर-जाँघ और जँघासों में बहुत वेदना होती है। इन मस्सों में स्वयं भी बड़ी चीस मारती है। मल भी बहुत सख्त, गाँठदार, थोड़ा सा, दर्द-झाग-आँव और आवाज़ के साथ बार बार निकलता है। व्यापी रूप में छींक, डकार, अरुचि, हृदय पर भार, खाँसी, श्वास, अग्निमान्द्य, कानों में घूं-घूं, सिर में चक्कर आदि लक्षण होते हैं। त्वचा-नाखून-मल-मूत्र-आँख और मुख पर लाली के बजाय कालिमा झलकती है। उपद्रव रूप में गुल्म, प्लीहवृद्धि, उदररोग तथा अष्ठीला-ग्रन्थि की वृद्धि (उस प्रदेश में स्थिर रक्तवृद्धि बना रह कर) होजाती है।[1]

---

1. "गुदांकुरा बह्वनिलाः शुष्काश्चिमिचिमान्विताः। म्लानाः श्यावारुणाः स्तब्धा विषमाः परुषाः खराः॥ मिथोविसदृशा वक्रास्तीक्ष्णाः विस्फुटिताननाः। बिम्बीकर्कन्धुखर्जूरकार्पासीफलसन्निभाः॥ केचित्कदम्बपुष्पाभाः केचित्सिद्धार्थकोपमाः। शिरःपार्श्वांसकट्यूरुवंक्षणाभ्यधिकव्यथाः॥ क्षवथूद्गारविष्टम्भहृद्ग्रहारोचकप्रदाः। कासश्वासाग्निवैषम्यकर्णनादभ्रमावहाः॥ तैरार्तो ग्रथितं स्तोकं सशब्दं सप्रवाहिकम्। रुक्फेनपिच्छानुगतं विबद्धमुपवेश्यते॥ कृष्णत्वङ्नखविण्मूत्रनेत्रवक्त्रश्च जायते। गुल्मप्लीहोदराष्ठीलासम्भवस्तत एव च॥" (अ० हृ०। नि०।

पित्ताश के लक्षण—मस्सों का रङ्ग लाल-पीला-काला होता है। रंग की दृष्टि से ये तोते की जीभ, यकृत् या जोंक के मुख के समान होते हैं। ये पतले, बीच में जौ की तरह मोटे, मृदु, शिथिल, दुर्गन्धमय और रक्तस्रवण करने वाले होते हैं। व्यापी रूप में शरीर में दाह, ज्वर, पसीना, प्यास, अरुचि, मूर्च्छा, मोह ('मूर्च्छा मनोमोहः, प्रमूढता इन्द्रियमोहः'—मधुकोश) इत्यादि लक्षण होते हैं। त्वचा-नाखून इत्यादि के रङ्ग हरे-पीले होते हैं। मल पतला, गरम, पीला-लाल, रक्तयुक्त और आम से युक्त होता है।[1]

कफार्श के लक्षण—मस्से बड़े, मोटे, कठिन, फूले हुए, स्निग्ध, स्थिर, भारी, और चिकने होते हैं। रंग इनका सफेद होता है। स्थिर रूप में थोड़ा-थोड़ा दर्द और खाज इनमें बनी रहती है, इसी लिये इन्हें छूने पर सुखकर प्रतीति होती है। इनका परिमाण करीर (टेंट), कटहल की गुठली, मुनक्का या गाय के थन के बराबर होता है। इन मस्सों पर श्लेष्मा (Mucus) का स्राव बना रहने से पिच्छिल स्पर्श होता है।

७। २८-३३)। और भी देखें—चरक (चि० ।१४। ११), सुश्रुत (नि० ।२।१०।), अष्टांगसंग्रह (नि० ।७।१२।) इत्यादि।

1. "पित्तोत्तरा नीलमुखा रक्तपीतासितप्रभाः। तन्वस्रस्राविणो विस्रास्तनवो मृदवः श्लथाः॥ शुकजिह्वायकृत्खण्डजलौकोवक्त्रसन्निभाः। दाहपाकज्वरस्वेदतृण्मूर्च्छारुचिमोहदाः॥ सोष्माणो द्रवनीलोष्णपीतरक्तामवर्चसः। यवमध्या हरित्पीतहारिद्रत्वङ्नखादयः॥" (अ० हृ०। नि० ।७। ३४-३६।)। और भी देखें—चरक (चि०।१४।१४), सुश्रुत (नि०।२। ११), अ० सं० (नि०।७। १६) आदि।

इन पर का आवरण मजबूत होने से नहीं फटता, अतः रक्तस्राव नहीं होता। इनके कारण जँघासों में आनाह (खिंचाव। 'णह' बन्धने।) रहता है और गुदा-वस्ति-नाभि इत्यादि में काटने का सा दर्द होता है। मल बार-बार बड़ी मात्रा में वसा का सा और श्लेष्मा से युक्त आता है। रोगी कास, श्वास, उबकाई, अरुचि, पीनस, मूत्रकृच्छ्र (मस्सों के दबाव के कारण), सिर की जकड़ाहट, शीतज्वर, पुंस्त्वहीनता, अग्निमान्द्य, वमन इत्यादि से व्यथित रहता है। उसकी त्वचा-नाखून इत्यादि में लालिमा के स्थान पर सफ़ेदी आजाती है।[1]

त्रिदोषार्श के लक्षण—व्यापी रूप से तीनों दोषों के लक्षण होते हैं। मस्सों के रंग भी तीनों ही दोषों के कारण चित्रविचित्र होते हैं। मस्सों का आकार सरसों-मूंग-मसूर-उड़द-मोठ-मटर-

---

१. "श्लेष्मोल्वणा महामूला घना मन्दरुजः सिताः। उच्छूनोपचिताः स्निग्धाः स्तब्धवृत्तगुरुस्थिराः॥ पिच्छिलाः स्तिमिताः श्लक्ष्णाः कण्ड्वाढ्याः स्पर्शनप्रियाः। करीरपनसास्थ्याभास्तथा गोस्तनसन्निभाः॥ वंक्षणानाहिनः पायुबस्तिनाभिविकर्तिनः। सकासश्वासहृल्लासप्रसेकारुचिपीनसाः॥ मेहकृच्छ्रशिरोजाड्यशिशिरज्वरकारिणः। क्लैब्याग्निमार्दवच्छर्दिरामप्रायविकारदाः॥ वसाभसकफप्राज्यपुरीषाः सप्रवाहिकाः। न स्रवन्ति न भिद्यन्ते पाण्डुस्निग्धत्वगादयः॥" (अ० हृ०। नि०।७।३४-४१)। और भी देखें—चरक (चि०।१४।१७।), सुश्रुत (नि०।२।१२), अ०सं० (नि०।७।१७।) आदि।

खजूर-बेर-रत्ती-करीर-गूलर जामुन-मुनक्का-गोस्तन-कसेरू- सिंघाड़ा इत्यादि के बराबर होता है।[1]

रक्तार्श के लक्षण—प्रायः पित्तार्श के से ही लक्षण होते हैं। मस्सों का रंग वटांकुर-रत्ती या मूँगे के समान होता है। सख्त मल के कारण इन नरम मस्सों का आवरण छिल जाता है और यकायक लाल-काला सा (अवरोध के कारण) एवं उष्ण रक्त बह निकलता है, फलतः रोगी को बड़ी वेदना होती है और वह चिल्लाता है। अतिरक्तस्राव के कारण शरीर का रंग बरसाती मेंढक की तरह पीला-सफ़ेद (पाण्डु) पड़ जाता है, रोगी के बल-उत्साह-ओज इत्यादि प्राणशक्तियों का विनाश होजाता है। मल रक्तमय होने से काला, सख्त, थोड़ा और कठिनता से आता है—इसमें रक्त के कारण झाग और लाल रंग भी होता है। अधोवायु की ठीक प्रवृत्ति नहीं होती।[2]

---

१. "निचयात्सर्वलक्षणाः।" (अ० हृ० ।नि०।७।४२।)। और भी देखें-चरक (चि० ।१४।१०।), सुश्रुत (नि० ।२।१४।) भेलसंहिता इत्यादि।

२. "रक्तोल्वणा गुदे कीलाः पित्ताकृतिसमन्विताः। वटप्ररोहसदृशा गुंजाविद्रुमसन्निभाः॥ तेऽत्यर्थं दुष्टमुष्णं च गाढविट्प्रतिपीडिताः। स्रवन्ति सहसा रक्तं तस्य चातिप्रवृत्तितः॥ भेकाभः पीड्यते दुःखैः शोणितक्षयसम्भवैः। हीनवर्णबलोत्साहो हतौजाः कलुषेन्द्रियः। विट् श्यावं कठिनं रूक्षमधोवायुर्न गच्छति। तनु चारुणवर्णं च फेनिलं चासृगर्शसाम्॥" (भावप्रकाश। अर्श०।)। और भी देखें—सुश्रुत (नि०।२।१३।), अ० हृ० (नि०।७।४३-४५), च० सं० (नि०।७।१६।) इत्यादि।

इस रक्ताशं में वात और कफ के अलग २ अनुबन्ध होने पर विशिष्ट लक्षण भी होते हैं ।[1]

सहजार्श के लक्षण—मस्से सख्त, अनेक, भयंकर, खुरदरे तथा अन्दर (मलाशय में) होते हैं। इनका रंग अरुण या पाण्डुर होता है। रोगी बहुत क्षीण, बाँस के से फटे और कम-जोर स्वर वाला, मन्दाग्नि, हीनवीय और क्रोधी होता है। सारे शरीर में सिराओं की कुटिलता के विकार यत्र-तत्र (विशेषतः पिण्डलियों में) दीखते हैं। पुंस्त्वक्षीणता के कारण रोगी की सन्तानें नहीं होतीं या कम होती हैं। सिर-आँख-कान-नाक आदि में विकार होकर इनके कार्य क्षीण होजाते हैं। लालास्राव और उबकाई होती हैं।[2]

---

१. " 'कट्यूरुगुदशूलं च दौर्बल्यं यदि चाधिकम् । तत्रानुबन्धो वातस्य हेतुर्यदि च रूक्षणम्॥' 'शिथिलं श्वेतपीतं च विट् स्निग्धं गुरु शीतलम् । यद्यर्शसां घनं चासृक् तन्तुमत्पाण्डु पिच्छिलम् ॥ गुदं सपिच्छं स्तिमितं गुरु स्निग्धं च कारणम् । श्लेष्मानुबन्धो विज्ञेयस्तत्र रक्तार्शसां बुधैः ॥' " (भावप्रकाश) (माधवनिदान)

२. "अर्शांसि सहजातानि दारुणानि भवन्ति हि । दुर्दर्शनानि पाण्डूनि परुषाण्यरुणानि च ॥ अन्तर्मुखानि तैरार्तः क्षीणः क्षीणस्वरो भवेत् । क्षीणानलः क्षीणरेताः शिरासन्ततविग्रहः ॥ अल्पप्रजः क्रोधशीलो भग्नकांस्यस्वनान्वितः । शिरोदृक्कर्णनासासु रोगी हृल्लेपसेकवान् ॥" (भावप्रकाश) । और भी देखें—चरक (चि०।१४।७-८।), सुश्रुत (नि०।२।१५), अष्टांगसंग्रह (नि०।७ ,७ ।) इत्यादि ।

शुष्कार्श के लक्षण— इन्हें बाह्यार्श भी कहते हैं। वात-कफजनित होने से इनमें इन दोनों के लक्षण होते हैं।[1]

शुष्कार्श गुदौष्ठ के बाहर चारों ओर पहिये के आरे की भाँति होते हैं। प्रत्येक मस्से के बीच में एक छोटी सी गँठीली सिरा होती है, उसके चारों ओर सौत्रिक तन्तु होते हैं जो त्वचा से ढके रहते हैं। प्रारम्भिक अवस्था में ये मृदु रहते हैं और प्रतीत नहीं होते। सख्त कब्ज, वस्त्रादि की रगड़, सीले स्थान पर बैठना इत्यादि कारणों से या तीव्र विरेचक (यथा एलुआ) इत्यादि से जब ये प्रकुपित और शोथयुक्त होते हैं तब रोगी को पीड़ा होती है और चलने-फिरने में कष्ट होता है। शोथ से भीतर की सिरा फूलती है, सौत्रिक तन्तु बढ़ते हैं और त्वचा मोटी हो जाती है। इस तरह बार-बार शोथ होने से अर्श की कठिन गाँठें बन जाती हैं। प्रायः सूखे होने के कारण इन्हें शुष्कार्श कहते हैं।

शुष्कार्श का आवरण पहले तो लम्बोत्तर कोषों से बना होता है, पुनः उत्तरोत्तर रोगवृद्धि होने पर उनके स्थान पर चपटे कोषों की कला का आवरण आ जाता है—जिससे ये अर्श कठोर हो जाते हैं और इनमें से रक्तस्रवण नहीं हो पाता। इसी लिये ये शुष्क रहते हैं। इन्हें वातकफोल्बण अर्श भी कहते हैं।[2]

इस शुष्कार्श या बाह्यार्श के दो भेद होते हैं। प्रथम भेद तो आभ्यन्तरार्श से संयुक्त मिलता है, जिसे मिश्रित अर्श

---

१. "हेतुलक्षणसंसर्गाद् विद्याद् द्वन्द्वोल्बणानि तु।" (च०।चि०।१४।२०)

२. "वातश्लेष्मोल्बणान्याहुः शुष्काण्यर्शांसि तद्विदः।"(च०। चि०। १४। ३८।)

कहते हैं। इस भेद के कारण-लक्षण-चिकित्सा आदि आभ्यन्तरार्श जैसे ही हैं। सामान्यतः आभ्यन्तरार्श होने पर गुदप्रणाली का इस आभ्यन्तरार्श से निचला भाग अतिशिथिल और शोफमय होता है। जब कई आभ्यन्तरार्श बाहर निकल आवें तो गुदप्रणाली में उनके नीचे स्थित शिथिल और शोफमय श्लेष्मकलाभाग गुदद्वार से बाहर उलटा मुड़कर उन आभ्यन्तरार्श के मस्सों के चारों ओर एक रबर के छल्ले जैसा गुदगुदा घेरा बना देता है। यही मिश्रित अर्श का रूप है।

शुष्कार्श का द्वितीय भेद अधिक आवश्यक है। गुदद्वार के किनारे पर किसी फूली हुई और रक्त से भरी हुई प्रतिरुद्ध शिरा के फटने से एक वर्तुल रक्तगुल्म सा चारों ओर बन जाता है—जो वास्तव में स्रवित रक्त के जम जाने से बनता है। या फिर गुदा के परिवर्ती प्रदेश की कोई छोटी शिरा रक्त से खूब भर जावे और उसमें का रक्त भीतर ही भीतर जम जावे—तब भी मस्सा बन जाता है। दोनों ही अवस्थाओं में स्थानिक रूप से रक्त जम जाता है और परिणामतः शिरा की शोथ भी हो जाती है। अतः इस भेद को रक्तगुल्मसदृश बाह्यार्श[1] कहते हैं।

शुष्कार्श का प्रारम्भ हमेशा ही तीव्र होता है। सख्त परिश्रम या किसी पेशी के उग्र कार्य से उदर में दबाव बढ़कर गुदा में यकायक तीव्र दर्द होता है। तत्काल गुदा में नीलाभ शोथ बन जाती है। यह पहले तो मृदु होती है, फिर शीघ्र ही सख्त और बड़ी ही स्पर्शासह हो जाती है और आकार में टूटे हुए मटर से लेकर बेर जितनी हो जाती है। दर्द की मात्रा प्रायः

---

१. Thrombo-phlebitic External Piles.

अतिकष्टप्रद सीमा तक पहुँच जाती है। दो-तीन दिन बाद लक्षण प्रायः घटने लगते हैं और वह शोथ कम होने लगती है। इस क्रम में स्थानिक रूप से बना हुआ खून का थक्का पूर्णतः निलीन या पाचित हो सकता है, परन्तु प्रायः गुदा पर त्वचा से ढका एक सौत्रिक चिन्ह सा रह जाता है। कभी कभी इस थक्के से ही शिरा में अश्मरी बन जाती है। कभी-कभी इस थक्के पर की त्वचा में स्वयं ही पोषणाभाव से कोथ होकर वह थक्का बाहर निकल जाता है, और शीघ्र ही ज़ख्म भर जाता है। कभी-कभी थक्के में पूयकृमियों का संक्रमण होकर गुदा का नाडीव्रण या भगन्दर बनजाता है।

शुष्कार्श में वातप्रकोप के कारण अतीव्र वेदना होती है, विशेषतः मलत्यागकाल में।

परिस्रावी अर्श के लक्षण—स्थिति की दृष्टि से इस भेद को आभ्यन्तरार्श भी कहते हैं। इसमें पित्त और रक्त का प्रकोप प्रधानतया होता है[1]। गुदप्रणाली के ऊर्ध्वभाग और मलाशय के अधोभाग में श्लेष्मकला के पास शिराजाल में इस आभ्यन्तर अर्श का प्रारम्भ होता है।

इस आभ्यन्तर अर्श में मुख्यतः विस्तृत और फूले हुए शिराओं का एक संग्रह होता है, और साथ ही उसमें रक्त लाने वाली एक या अनेक धमनियाँ भी होती हैं। यह मस्सा एक भी हो सकता है और अनेक भी। कभी-कभी यह मस्सों की अनेकता

---

1. "प्रस्रावीणि तथार्द्राणि रक्तपित्तोल्बणानि च ॥" (च० । चि० ।१४। ३८ ।)

इतनी अधिक होती है कि एक निरन्तर छल्ला सा बन जाता है। प्राय: तीन-चार मस्से होते हैं। आठ तक भी सम्भव हैं—बाहर को निकले हुए। अर्श की आवरक श्लेष्मकला में रक्तवृद्धि होती है और प्राय: मल के द्वारा व्रणित होती रहने से इस कला में से रक्तस्राव हुआ करता है। मलोदीरण से ये मस्से बाहर निकलते हैं। पहले तो ये मस्से केवल मलत्यागकाल में बाहर निकलते हैं और फिर तत्काल अन्दर लौट आते हैं; परन्तु बाद में मामूली से दबाव से भी ये मस्से बाहर उभर आते हैं और फलत: इन्हें ठीक स्थान पर पहुँचाना कठिन हो जाता है।

जब आभ्यन्तर अर्श को बाहर रहने दिया जाता है तो पहले तो इन मस्सों में से काफ़ी श्लेष्मस्राव निकलता है, पर बाद में श्लेष्मकला का स्तर दृढ़ हो जाता है। बारबार रक्त जमने और शिराशोथ के आक्रमण होते रहते हैं। मस्से सूजे हुए, शिथिल और वेदनामय हो जाते हैं। उग्र रोगियों में पूयसंक्रमण और कोथ होकर मस्से पूर्णत: विनष्ट हो जाते हैं।

प्रारम्भिक लक्षण, इस अवस्था में, रक्तस्राव का होता है। पहले तो कभी-कभी ही मल के पार्श्व पर रक्त की धारी सी लगी हुई होती है और रक्तस्राव भी तीव्र नहीं होता। परन्तु कइयों में प्रत्येक बार के मल के साथ रक्त का पर्याप्त विनाश होता है, जिस से गम्भीर (चिन्तनीय) पाण्डु हो जाता है। इस स्रवित रक्त का रंग चमकीला लाल होता है और कभी-कभी आधपाव ($\frac{1}{4}$ पाइण्ट) तक रक्त एक बार में निकल जाता है। जब यह रक्तस्राव अस्थायीरूप में बाहर को उभरे हुए मस्से से होता है तो रक्त पिचकारी की धार की तरह छूटता है, जिससे यह सन्देह

हो जाता है कि रक्त धमनी से आ रहा है—पर यह रक्त वस्तुतः शिरा से ही आता है।

द्वितीय लक्षण है, मलत्याग में तीव्र वेदना। मल निकल आने के कुछ देर बाद तक भी यह वेदना बनी रहती है। रोगी को मलत्याग के समय गुदा से किसी उभार के बाहर निकलने तथा उसमें कुछ कष्ट होने से कभी-कभी पहले ही अर्श होने का ज्ञान हो जाया करता है। जब मस्सा शोथयुक्त हो जाता है या गुदसंकोचनी पेशी में फंस जाता है तो तीव्र वेदना और कष्ट अनुभव होते हैं और रोगी कई दिनों तक बिस्तर पर पड़े रहने के लिये बाधित हो सकता है। यह वेदना अन्य अङ्गों में भी प्रतिक्षिप्त होकर अनुभूत होती है, यथा—अण्ड, मूत्राशय आदि में।

यदि मस्सों को बाहर ही निकला रहने दें तो श्लेष्मा का स्राव होता है, जिसमें मस्से की आवरक क्षोभित श्लेष्मकला से रक्त भी आजाता है। यदि रक्त जम जावे और शिराशोथ हो जावे तो प्रायः तीव्र वेदना होती है और ज्वर तथा अन्य व्यापी लक्षण भी हो जाते हैं।

तृतीय लक्षण है, मलबन्ध। यह प्रायः सदा ही अर्श के साथ हुआ ही करता है। इसका कारण कुछ तो दबाव सम्बन्धी प्रतिरोध होता है और कुछ मलत्याग में होने वाला दर्द। इस मलबन्ध से अर्श में पुनः उग्रता बढ़ जाती है और इस प्रकार एक अन्योन्याश्रय दुष्टचक्र बन जाता है।

उग्र रोगियों में व्यापी लक्षण (क्षीणता, क्षुब्धावस्था, दुःखोपचारता, शिरःशूल, भ्रम, पाण्डु आदि) भी हो जाते हैं।

पहले तो इस आभ्यन्तरार्श का पता नहीं चलता, जबतक कि रक्तस्राव न हो। परन्तु गुदा में भार और गुरुता की प्रतीति सामान्यतया होती है, जिसके साथ साथ दर्द भी होता है। यह दर्द मलत्याग से पहले और बाद में बढ़जाता है। रोगी को ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे कोई शल्यपदार्थ गुदा में है और यह मस्सा बहुधा बाहर उभर आता है, जिसके गुदसंकोचनी पेशी में फँस जाने से तीव्र वेदना होती है। इस फँसाहट के कारण मस्से में शोथ होकर पूय बन जाती है और ज्वर इत्यादि व्यापी लक्षण भी हो जाते हैं। यदि यह फँसाव न भी हो तो भी मस्से में रक्त का जमाव, शिराशोथ, गुदा के चारों ओर पूय इत्यादि लक्षण हो जाते हैं। इन बाहर निकले मस्सों को रोगी भीतर स्थापित कर भी लेता है। इसके बाद रक्तस्राव अवश्य शुरु हो जाता है। पहले तो यह रक्तस्राव मलत्याग के बाद और कुछ बूँदों के रूप में ही होता है, परन्तु कुछ समय बाद अतिस्राव होकर तीव्र पाण्डु हो जाता है। तब भी चिकित्सा न हो तो दर्द और कष्ट तीव्र हो जाता है, रक्तमिश्रित श्लेष्मा (आम) मलाशय से निकलने लगता है, व्यापी क्षोभ-दर्द और रक्तस्राव के कारण रोगी अति दीन-क्षीण हो जाता है।

यदि यकृत्काठिन्य आदि द्वारा प्रतिहारिणीसिरावरोध होकर अर्श पैदा हो तो रक्तस्राव से लाभ होता है और तब इसे सदा ही बन्द नहीं कर देना चाहिये, अन्यथा पुनः यकृत् में रक्तवृद्धि संन्यासरोग आदि उपद्रव खड़े हो जाते हैं।

मलाशय में से निकलने वाले श्लेष्मस्राव से गुदा के चारों ओर की त्वचा भीगी रहती है, अतः प्रायः गुदा के चारों ओर स्थिर क्षोभ बना रहता है।

इस परिस्रावी अर्श में स्थानिक वेदना के कारण मलावरोध, विष्टम्भ, आटोप, मन्दाग्नि, डकार, गुदपरिकर्तन इत्यादि लक्षण होते हैं। मलावरोध से आँत में मल सड़कर विष बनते हैं जो सारे शरीर में फैलते हैं और फलतः कमजोरी इन्द्रियदौर्बल्य, तन्द्रा आदि लक्षण होते हैं। रक्तस्राव से पाण्डु, श्वास, थकावट, आदि लक्षण होते हैं। रक्तातिस्राव से शीताद व्याधि (Scurvy) के लक्षण भी पैदा हो जाते हैं।

आभ्यन्तरार्श का आकार बढ़ने पर आँत में भार और दाह की प्रतीति होती है, मूत्रत्याग की बार-बार इच्छा होती है, मल रंजित होकर आता है, कभी कभी मूत्रत्याग में अशक्ति होती है, रान में दर्द होता है तथा स्त्रियों में श्वेत प्रदर हो जाता है।

इन स्थानीय लक्षणों के अलावा कभी-कभी अन्यत्र भी लक्षण होते हैं। यथा—समीपस्थ शिरा जालों (मूत्राशय, अष्ठीलाग्रन्थि, त्रिक आदि के शिराजालों) में भी ये ही लक्षण होने लगते हैं। कइयों में त्रिकप्रदेश में दर्द होता है और मूत्रत्याग में विकार होते हैं। स्त्रियों में योनि का क्षोभ, मासिक-धर्म के विकार आदि होते हैं। स्थूलता, जीर्ण आमाशयान्त्रक्षोभ, व्यापि नाडीदौर्बल्य आदि लक्षण भी प्रायः ऊपर से आ मिलते हैं; अतः अर्श एक शरीर व्यापी रोग बन जाता है।

परिणाम और उपद्रव

किसी मस्से में रक्त जम सकता है। इसके साथ ही प्रायः मस्से का संक्रमण भी मिला होता है जिससे वहाँ एक विद्रधि (फोड़ा) बन जाती है। यह विद्रधि आँत के भीतर ही फूटकर स्रवित हो जाती है। कइयों में यह विद्रधि गहराई में बढ़ती जाती

है और गुदनाड़ी या भगन्दर बन जाता है। थोड़े से रोगियों में बस्तिप्रदेश की शिराशोथ के साथ-साथ पाकप्रक्रिया भी हो कर उपद्रव रूप में व्यापी पूयसंचार हो जाता है। जहाँ तीव्र संक्रमण नहीं होता तो जमे रक्त वाला मस्सा सौत्रिकतन्तुमय बन जाता है और फलतः मलाशय का सौत्रिक चर्मकील (Polyp) बन जाता है। गुदसंकोचनी पेशियों में फँस जाने से मस्सा बाहर उभरा रह जाता है और उसे स्वस्थान में लौटाना सम्भव नहीं रह जाता—फलतः वह मस्सा अति स्पर्शासह, तना हुआ, सूजा हुआ और नीला सा हो जाता है; उसमें शोथ के बाद व्रण बनता है और वह सड़ जाता है, इसके बाद एक दम आराम भी हो जाता है।

वाग्भट के अनुसार 'उदावर्त' नामक दुःसाध्य परिणाम अतिरक्तस्राव और वातप्रकोप के कारण हो जाता है[1]। इसके

---

1. "मुद्गकोद्रवजूर्णाह्वकरीरचणकादिभिः। रूक्षैः संग्राहिभिर्वायुः स्वे स्थाने कुपितो बली॥ अधोवहानि स्रोतांसि संरुध्याधः प्रशोषयन्। पुरीषं वातविण्मूत्रसं कुर्वीत दारुणम्॥ तेन तीव्रा रुजा कोष्ठपृष्ठहृत्पार्श्वगा भवेत्। आध्मानमुदरावेष्टो हृल्लासः परिकर्तनम्॥ बस्तौ च सुतरां शूलं गण्डश्वयथुसम्भवः। पवनस्योर्ध्वगामित्वं ततश्छर्द्यरुचिज्वराः॥ हृद्रोगग्रहणीदोषमूत्रसंगप्रवाहिकाः। बाधिर्यतिमिरश्वासशिरोरुक्कासपीनसाः॥ मनोविकारस्तृष्णास्रपित्तगुल्मोदरादयः। ते ते च वातजा रोगा जायन्ते भृशदारुणाः॥ दुर्नाम्नामित्युदावर्तः परमोऽयमुपद्रवः। वाताभिभूतकोष्ठानां तैर्विनाऽपि स जायते॥" (अ० हृ० । नि० । ७ । ४६-५२ ।)। और भी देखें—अष्टांगसंग्रह (नि० । ७ । २०-२६ ।)।

अतिरिक्त तीव्र पाण्डुरोग और श्वेतप्रदर भी इसके परिणाम हैं। चरक ने बद्धगुद का भी वर्णन किया है[1]।

साध्यासाध्य

यह रोग प्रायः इतना खतरनाक तो नहीं होता, पर तकलीफ़देह ज़रूर होता है। इस तकलीफ़ और कष्ट के कारण मुख्यतः तीन होते हैं—रक्त का लगातार नष्ट होते जाना, मस्से में पुनः-पुनः शोथ और रक्त जमने के आक्रमण होने की प्रवृत्ति और तीसरे तज्जनित वेदना।

सामान्यतः यदि यह रोग सहज या त्रिदोषज हो, आभ्यन्तर वलि में हो तो असाध्य होगा। यदि रोगी की अग्नि और बल स्वस्थ हों और चिकित्सक-परिचारक तथा भेषज भी उत्तम हों तो यह रोग याप्य होगा, बशर्ते कि आयु शेष हो। अन्यथा यह रोग अप्रतिकार्य है। यदि यह रोग द्विदोषज हो, द्वितीय गुदवलि में स्थित हो, एक साल का हो तो कृच्छ्रसाध्य होगा। यदि यह रोग एकदोषज हो और बाह्य गुदवलि में स्थित हो और नया ही हो तो सुखसाध्य होगा[2]।

---

१. "तेषां प्रशमने यत्नमाशु कुर्याद्विचक्षणः। तान्याशु हि गुदं बद्ध्वा कुर्युर्बद्धगुदोदरम्॥" (च० चि० । १४ । ३२ ।)

२. "सहजानि त्रिदोषाणि यानि चाभ्यन्तरां वलिम्। जायन्तेऽर्शांसि संश्रित्य तान्यसाध्यानि निर्दिशेत्॥ शेषत्वादायुषस्तानि चतुष्पादसमन्विते। याप्यन्ते दीप्तकायाग्नेः प्रत्याख्येयान्यतोऽन्यथा॥ द्वन्द्वजानि द्वितीयायां वलौ यान्याश्रितानि च। कृच्छ्रसाध्यानि तान्याहुः परिसंवत्सराणि च॥ बाह्यायां तु वलौ जातान्येकदोषोल्बणानि च।

जिस अर्शोरोगी के हाथ-पैर-मुख-नाभि-गुदा और वृषण में शोथ हो और हृदयप्रदेश में तथा पसवाड़ों में दर्द हो तो वह असाध्य होगा। हृद्देश और पसवाड़ों में हो, मोह (=इन्द्रियासंवित्ति। 'मुह वैचित्त्ये' हो,) वमन होती हो, सर्वांगशूल और और ज्वर हो, प्यास बहुत लगे, गुदा में शोथ-पाक बहुत हों तो वह रोगी सर्वथा असाध्य होगा[1]।

निदान और परीक्षा

पड़ोस की अन्य शोथों से गुदजार्श का निदान करना कठिन नहीं है। इसके लिये रोगी के बनाये हुए इतिवृत्त मात्र पर ही भरोसा नहीं करना चाहिये। पूरी परीक्षा करनी जरूरी है। गुदा के चारों ओर सामान्य चर्मकील हों या फिरंगजन्य गुदशूक (मांसकील, Condylomata) हों तो उन्हें भी सामान्यतः भ्रम से अर्श ही समझ लिया जा सकता है। फिर अर्श के साथ अन्य भी कई हालतें मिली हुई हो सकती हैं, यथा—गुदनाडी, भगन्दर, त्वचा के मस्से आदि। और यदि हलकी ही परीक्षा

अर्शांसि सुखसाध्यानि न चिरोत्पतितानि च ॥" (च० । चि० । १४ । २८–३१)। और भी देखें–सुश्रुत (नि० २ । १६ ।), अष्टांगहृदय (नि० । ७ । ५३–५५ ।), अष्टांगसंग्रह (नि० । ७ । २७-२८ ।), भावप्रकाश, माधवनिदान इत्यादि ।

१. "हस्ते पादे मुखे नाभ्यां गुदे वृषणयोस्तथा। शोथो हृत्पार्श्वशूलं च यस्यासाध्योऽर्शसो हि सः॥ हृत्पार्श्वशूलं सम्मोहश्छर्दिरङ्गस्य रुग्ज्वरः। तृष्णा गुदस्य पाकश्च निहन्युर्गुदजातुरम् ॥" (च० । चि० १४ । २६—२७) ।

करें तो इन सब में भी भ्रम हो सकता है। यह एक स्मरणीय तत्व है कि यदि आभ्यन्तरार्श सूजे और सूत्रायित (fibrosed) न हों तो शीघ्र ही स्पर्शन से पहचान नहीं लिये जा सकते। यदि वे जोर मारने पर भी बाहर न निकलें तो अर्शोयन्त्र (गुदयन्त्र) से इस आभ्यन्तरार्श के प्रदेश को अच्छी तरह से देख लेना चाहिये।

मलाशय की परीक्षा प्रायः अंगुली द्वारा की जाती है। तर्जनी अंगुली पर रबर का बना हुआ अंगुलित्राणक (Finger-stall) पहन लिया जाता है। रोगी को दाईं करवट पर लिटा कर परीक्षा की जाती है। तर्जनी पर कुछ स्निग्ध पदार्थ (घृत आदि) लगाकर धीरे-धीरे उसे गुदा में प्रविष्ट किया जाता है। कई रोगियों को देखने से तर्जनी की स्पर्शशक्ति को ऐसा अभ्यास हो सकता है कि आभ्यन्तरार्श का स्पर्श अनुभव हो सके। ये अर्श कुछ लम्बोदर, मखमली मस्सों के रूप में होते हैं, जिनके मध्यावकाश में प्रणालियाँ रहती है और जिनके द्वारा ये एक दूसरे से पृथक् होते हैं

मिश्रित अर्श के बाहर उभरे हुए मस्सों के चारों ओर शिथिल और शोथमय श्लेष्मकला से बना हुआ मखमली छल्ला भी बाहर को निकला रहता है।

बाह्यार्श अनियमित होते हैं। इनकी सूजन गोल, श्लक्ष्ण और छल्लेदार नहीं होती।

त्वचा के मस्सों या चर्मकीलों—तिलकालकों (Polypi) से अर्श का विभेद यह है कि अर्श के मस्से इकले न होकर अनेक (multiple) होते हैं; मृदुतर और पीडनीयतर (more small 'c'ompressible) होते हैं, गुदा के समीप होते हैं, वृन्त

(pedicle) रहित होते हैं और उन गुदजाशें में रक्तस्राव बहुत स्पष्ट होता है।

गुदा की त्वचा फटकर रक्तस्राव होने की अवस्था को गुद-भेद कहते हैं। इससे अर्श का विभेद यह है कि अर्श में शिरा फूली होती है, मलविसर्जनकाल में सामान्य पीड़ा होती है और फिर पीड़ा नहीं रहती, तथा मस्से फटने पर अधिक रक्त गिरता है। गुदभेद में शिरा नहीं फूली होती—केवल त्वचा फटती है; मलत्याग में और बाद में अतिपीड़ा घण्टों तक बनी रहती है; कुछ रक्त मल पर रेखारूप में लगा हुआ निकलता है; तथा मल निकलने के बाद भी रक्त की २-४ बूंदें टपकती हैं।

गुदभ्रंश से विभेद यह है कि गुदभ्रंश का मांस मुलायम और वर्तुलाकृति होता है, परन्तु अर्श में मस्से ऊँचे-नीचे सब गुदा पर फैले हुए होते हैं।

फिरंगज गुदशूक में फिरंग का इतिवृत्त मिलता है; ये गुदशूक गुदा से कुछ दूर दोनों ओर होते हैं। अर्श गुदा के पास रहता है।

अर्श के अलावा अन्य कारणों से भी गुदा के द्वारा रक्त आ सकता है। अर्श में यह रक्त लाल चमकीले रंग का होता है और मल पर चढ़ा होता है। परन्तु यदि रक्त अन्त्रप्रणाली में अधिक ऊपर से आता है तो कृष्णाभ, गाढ़ा और चिपचिपा होता है और मल के साथ खूब रला-मिला होता है।

रक्त के वास्तविक कारण को जानने के लिये अंगुलि या अर्शोयन्त्र द्वारा परीक्षा करनी चाहिये। अर्शोयन्त्र चार अंगुल लम्बा, ५ अंगुल परिणाह (परिधि) वाला होता है। स्त्रियों के लिये ६ अंगुल परिणाह का। द्विच्छिद्र होता है।

गुदा को प्रकाश की तरफ रखते हुए रोगी को लिटाकर इस से परीक्षा करें १।

निदान में शारीरिक अवस्था का भी निरीक्षण करना चाहिये। हृदयदौर्बल्य के लक्षण ढूँढें, क्योंकि तब हृदय की आचूषणशक्ति क्षीण होने के कारण गुदान्तिका (अधरा) शिराओं में रक्त सदा बना रहकर ही अर्शोरोग होता है। पेट में यदि यकृत्काठिन्य के लक्षण मिलें तो झट यह परिणाम निकाल सकेंगे कि अर्श की ठीक चिकित्सा न हो सकेगी क्योंकि यकृत्काठिन्य असाध्य होता। अतः पेट भी अच्छी तरह देखना चाहिए। ध्यान से देखें कि गुदा के चारों ओर तो कोई विकार नहीं है।

---

१. "तत्र (अर्शो) यन्त्रं लौहं दान्तं शार्ङ्गं वार्क्षं वा गोस्तनाकारं चतुरंगुलायतं पञ्चांगुलपरिणाहं पुंसां षडंगुलपरिणाहं नारीणां तलायतं तद् द्विच्छिद्रं दर्शनार्थमेकं छिद्रमेकं छिद्रन्तु कर्मणि। एकद्वारे हि शस्त्रक्षाराग्नीनामतिक्रमो न भवति। छिद्रप्रमाणन्तु त्र्यंगुलायतमंगुष्ठोदरपरिणाहं यदंगुलमवशिष्टं तस्यार्धांगुलमधस्तादर्धांगुलोच्छ्रितोपरि वृत्तकर्णिकमेष यन्त्राकृतिसमासः।" (सु० चि० ६ । ८ ।) । और भी देखें— भावप्रकाश इत्यादि । अर्शोयन्त्र को Rectal Speculum कह सकते हैं।

अर्शोरोग की चिकित्सा

- आहाराचार
  - पथ्य
  - अपथ्य
- मुख्य चिकित्सा
  - भेषज
    - व्यापी
      - सर्वनिष्ठ
      - विशिष्ट
        - कर्मज की चिकित्सा
        - शुष्कार्श की चिकित्सा
          - वातज
          - कफज
          - वातकफज
        - आर्द्रार्शकी चिकित्सा
          - पित्तज
          - रक्तज
          - पित्तरक्तज
        - त्रिदोषार्श की चिकित्सा
    - स्थानीय, यथा—
      1. लेपन
      2. तैलादि
      3. स्वेदन
      4. धूपन
      5. पत्रबन्ध
      6. वर्ति
      7. परिषेक
      8. बस्ति
      9. अवगाह
  - क्षारकर्म
    - प्रतिसारणीयक्षार से
    - क्षारसूत्र से
    - सूचीवेध से
  - अग्निकर्म
    - अग्नि से
    - विद्युत् से
  - शस्त्रकर्म
    - रक्तस्रावण के लिये
    - अर्शःकर्तन के लिये
- उपद्रवों की चिकित्सा

व्यापी चिकित्सा (कर्मज, शुष्कार्श, आर्द्रार्श, त्रिदोषार्श की चिकित्सा)

स्थानीय चिकित्सा (स्थानीय, क्षारकर्म, अग्निकर्म, शस्त्रकर्म)
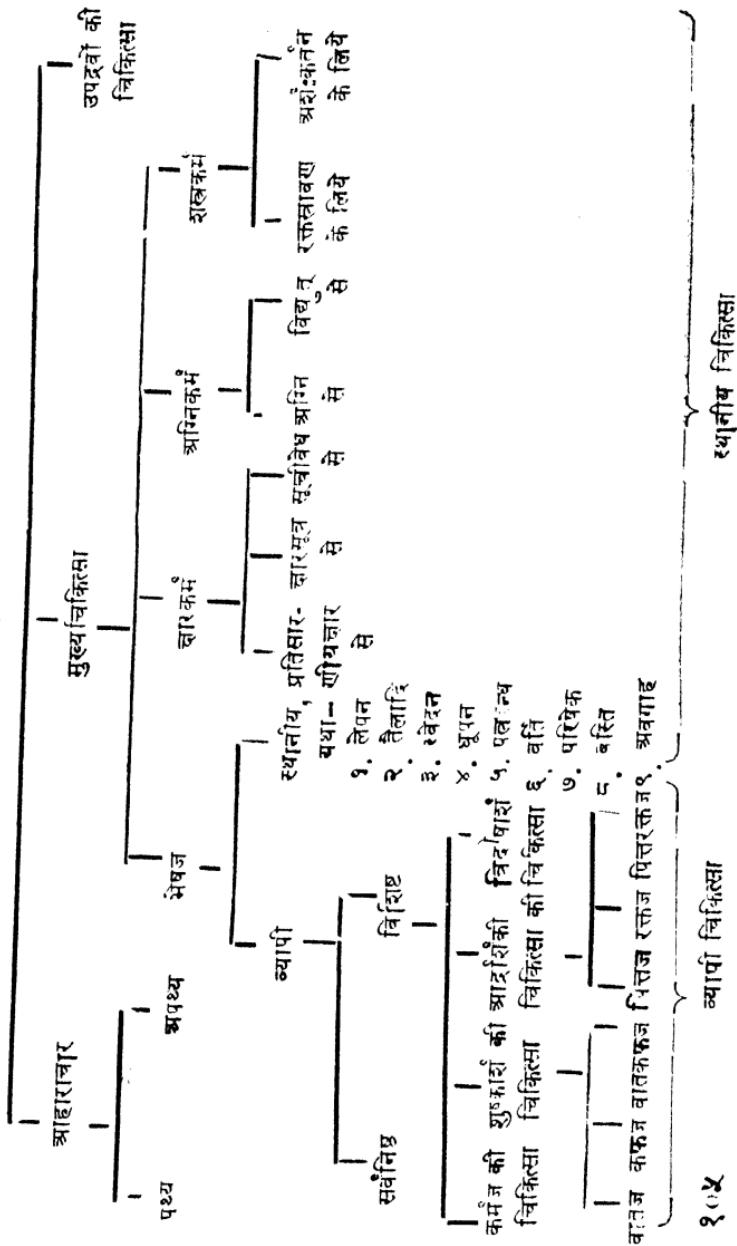
चिकित्सा*

अर्शोरोग की चिकित्सा को तीन शाखाओं में बाँटा जा सकता है, जैसा कि संलग्न तालिका से स्पष्ट है। वे तीन शाखायें ये हैं—आहाराचार, मुख्य चिकित्सा और उपद्रवों की चिकित्सा। मुख्य चिकित्सा भी भेषज, क्षार, अग्नि और शास्त्र में बँटकर अन्ततः व्यापी और स्थानीय इन्हीं दो भागों में सीमित हो जाती है। हम प्रत्येक शाखा का अलग अलग सक्षेप से वर्णन करेंगे।

आहाराचार

इसका अर्थ है, पथ्यापथ्य का विधान; और प्रयोजन है, अर्श को उग्र न होने देना। इस विधान के द्वारा ही कभी-कभी हलके केसों में अर्श के लक्षण शान्त हो जाते हैं। वास्तव में, इस रोग में, बड़ी बड़ी उपयोगी औषधियों से भी उतना लाभ नहीं होता, जितना आहाराचार के ठीक-ठीक नियन्त्रण से।

पथ्य—अर्शोरोग वास्तव में मलबन्ध और अग्निमांद्य से हुआ करता है, अतः इन दोनों को ठीक करने वाले आहार-विहार-औषधि आदि का ही सेवन करना चाहिये (च० चि० ;

---

* तीस से अधिक बृहद् ग्रन्थों के आधार पर यह चिकित्सा लिखी गई है, परन्तु स्थानाभाव के कारण बहुत संक्षेप में इसे यहां दिया जा रहा है और निर्देश (Refererences) भी नहीं दिये जा रहे। चिकित्सा को और भी संक्षेप में समझने के लिये साथ की तालिका देखें।

१४ । २४३,४४, २४६ ।) । मल-शोधक द्रव्यों के द्वारा मलाशय में स्थित मल के निकल जाने के कारण अर्शरोग भी ठीक हो जाता है (अ० हृ० । चि० । ८ । ५६, ८७ ।) । एतदर्थ भोजन लघु, सुपच, सादा और थोड़ा होना चाहिये । वनस्पतियों और अनु-लोमक फलों (पका पपीता, बिल्व, नारिकेलजल) आदि की बहुतायत होनी चाहिये । इस दृष्टि से अन्नों में पुराने लाल शालि चावल, सांठी के चावल, गेहूँ, जौ और कुलथी उत्तम हैं । इन्हें बकरी के दूध से या नीम के अथवा परवल के रसे के साथ खाना चाहिये । पहले खूब घी मिला लेना चाहिये । अथवा परवल, लहसन, चित्रक, पुनर्नवा, जिमींकन्द (अर्शोघ्न), बथुआ, बैंगन, चौलाई, जीवन्ती, पोई, मेथी, छोटी कच्ची मूली, पालक, पियासाल, जूट, मटर आदि के शाकों से खाना चाहिये । इनके अतिरिक्त नींबू, सोंठ, हरड़, मक्खन, शीतलचीनी, आंवला, काला नमक, कैथ, ऊँट का मूत्र-घी तथा दूध, भिलावा, सरसों का तेल, गोमूत्र, कांजी आदि अन्य भी अनुलोमक, और अग्नि-दीपक अन्नादि का सेवन करना चाहिये । बकरी का दूध उत्तम है । तक्र तो एकदम रामबाण है । इससे दोनों ही प्रयोजन सिद्ध होते हैं । क्योंकि अन्नप्रणाली इस तक्र से सर्वथा शुद्ध होकर अन्न का यथावत् परिपाक और सात्म्यीभाव होता है और फलतः अर्श आदि रोग निवृत्त हो जाते हैं (भ व०) । इसके अतिरिक्त सैन्धव, हींग, काली मिर्च, दोनों कण्टकारी, वचा, नया गूलर इत्यादि भी उत्तम हैं (वसव०) । सोहाँजने और कसौंदी का शाक भी हितकारी होता है (वसव०) । यदि रक्तस्राव अधिक होता हो, तो खील की पेया का सेवन करना चाहिये (चक्र०), तथा कसूम का शाक खाना चाहिये (रसरत्नसमुच्चय) । रक्तार्श में मटर,

मूँग, अरहर, मसूर के कुछ खट्टे रसे के साथ, उबले दूध के साथ तथा अन्य रक्तस्तम्भक पदार्थों के साथ शालि चावलों का, सावाँ धान्य का या कोद्रव (कोदों) का भात खाना चाहिये। खीलों की पेया को चांगेरी, नागकेसर, नीलकमल से या बला और पृश्निपर्णी से साधित कर लेना चाहिये (चरक)। अथवा नेत्रबाला, बेलगिरी, सोंठ के क्वाथ से साधित, मक्खनयुक्त और अनारदाने से या अनार के रस आदि से खट्टी की हुई पेया अच्छी है। या फिर गाजर से साधित और घी तथा तेल मिली पेया पीनी चाहिये। प्याज़ रक्तार्श में अत्युत्तम है। प्याज़ का शाक तक्र डालकर या पोई का शाक बेर का रस डालकर लेना चाहिये। (चरक)।

नियमित जीवन और व्यायाम अत्यावश्यक है। संयम द्वारा बल की रक्षा भी करनी चाहिये।

मलबन्ध दूर करने के लिये मामूली दवाई भी ली जा सकती है। गुलकन्द, हरड़ का मुरब्बा, मधुयष्ट्यादिचूर्ण, सनाय का मुरब्बा, त्रिवृच्चूर्ण, ईसबगोल आदि रात को लिये जा सकते हैं। इनके साथ कुछ रसपुष्प (कैलोमल) भी मिलाया जा सकता है। प्रति दिन प्रातः गुडहरीतकी का सेवन उत्तम है। एतदर्थ बस्ति भी ले सकते हैं, पर उसे सावधानी से बरतें ताकि बस्तिनेत्र की रगड़ गुदा में न लगे। मलत्याग के बाद फिटकरी के पानी से या बिन्दालडोडे (देवदाली) के कषाय से शौच करना चाहिये, खास तौर पर अतिरक्तस्राव होने की अवस्था में।

मस्से में बहुत दर्द, शोथ या रक्तस्राव हो या वह गुदा से बहुत बाहर निकल आवे तो पूर्ण विश्राम करें। मलत्याग के ठीक बाद यदि मस्सा बाहर निकल आवे तो लेट जावें और धीरे २

उसे अन्दर डाल दें।

अपथ्य—उपर्युक्त से भिन्न सभी कुछ अपथ्य है। शराब, मांस, पर्युषित अन्न, वेगविधारण, मैथुन, घोड़े-बाइसिकल आदि की सवारी, उकड़ूँ-आसन, दोषप्रकोपक आहार-विहारादि सब हेय हैं। मसाले, अतिभोजन अध्यशन, अजीर्ण-विदाहि-अभिष्यन्दि भोजन, आदि निदानोक्त आहार-विहार का परित्याग करें। तिलकुट, दही, पीठी, उड़द, करीर, सेम, बिल्व, घीया, पका आम, पोई शाक, शीतल जल, गुरु भोजन आदि का भी अवस्थानुसार परिहार करना उचित है।

इस रोग में पथ्यापथ्य की दृष्टि से मीठे-खट्टे, शीतवीर्य-उष्णवीर्य आदि का व्यत्यास से (Aalternately) सेवन करने से भी लाभ होता है (चरक। वाग्भट)।

मुख्य चिकित्सा

इसका अर्थ है, अर्शोरोग की मुख्य और वास्तविक चिकित्सा। इसके चार अंग हैं—भेषज, क्षार, अग्नि, शस्त्र।

भेषज का अर्थ है, औषधियों के द्वारा की जाने वाली चिकित्सा। इसके दो अङ्ग हैं—व्यापी और स्थानीय। व्यापी भेषज के पुनः दो उपांग हैं—सर्वनिष्ठ और विशिष्ट। हम पहले सर्वनिष्ठ व्यापी भेषज का प्रकरण प्रारम्भ करेंगे।

सर्वनिष्ठ व्यापी भेषज

इसका अर्थ है, अर्शोरोग के सभी भेदों (प्रकारों) की एक सामान्य चिकित्सा। इसके तीन प्रयोजन हैं—मल और वात के विबन्ध को दूर करना, अग्नि और बल को बढ़ाना और अर्श की

शोथ को घटाना। एतदर्थ अनेक प्रकार के चूर्ण, कषाय, अवलेह, आसवारिष्ट, रस आदि दिये जाते हैं। ज़मींकन्द (अर्शोघ्न), कुटज और भिलावा इस दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। कुटज-बिल्व-चित्रक-सोंठ-अतीस-हरड़-धमासा-दारुहलदी-वचा - चव्य ये सब अपने प्रभाव से अर्शोहर हैं। इनके अतिरिक्त सर्जक्षार, तेजबल, और सफ़ेद सरसों भी 'अर्शोघ्न' कहाते हैं। इस प्रकरण में हम कुछ मुख्य-मुख्य तथा सरल योग देंगे। भेषजसेवन चार मास तक लगातार अवश्य करना चाहिये (बसवराजीय)।

यदि यह रोग नया हो, इसके आरम्भक दोष-लक्षण और उपद्रव कम हों, और मस्से अभी ठीक प्रकट न होने के कारण अदृश्य हों तभी भेषज विधान करते हैं (सुश्रुत)। क्षार-अग्नि और शस्त्र के द्वारा अर्श की चिकित्सा करने पर ज़रा सी ग़लती से पुंस्त्वोपघात, गुदा में शोथ, अतिवेदना, अतिरक्तस्राव, पुनर्विरोह व्रणबन्ध, गुदभ्रंश, आदि उपद्रव यहाँ तक कि मृत्यु भी होने की सम्भावना बहुत रहती है, अतः इस दृष्टि से औषधिचिकित्सा ही अधिक अच्छी है (चरक)।

प्रतिदिन प्रातः गुड और हरीतकी (समभाग) को २-३ माशे की मात्रा में लें। यद्वा, ३५ सेर गोमूत्र में १०० हरड़ों को पकाकर २-३ माशे की मात्रा में इसका चूर्ण प्रातःकाल मधु के साथ लें। चिरचिटे की जड़ या शतावर की जड़ का चूर्ण चावलों के पानी या बकरी के दूध के साथ लें। गुड, सोंठ, पाठा को अनार के रस से खट्टा करके लें या अजवायन, सोंठ, पाठा, गुड़, अनार का रस, सैन्धव को तक्र के साथ लें। पाठा को धमासा, बेलगिरि, अजवायन, सोंठ, इन में से किसी एक के

साथ या सब के साथ मिलाकर लें। यद्वा, भोजन से पूर्व करज के कोमल पत्तों को घी और तेल में भून कर सत्तू के साथ मिला कर लें। विवृत् और जमालगोटे के चूर्ण के साथ गुड़ मिलाकर भी ले सकते हैं इन सब से मलशुद्धि होती है। इनके अतिरिक्त त्रिफला चूर्ण, मधुयष्ट्यादिचूर्ण, नाराचघृत (भैषज्य०), एरण्डतैल गुलकन्द, सनाय के पत्तों या हरड का मुरब्बा भी उत्तम हैं। लिक्विड पैराफीन कई लोग देते हैं, पर उससे गुदवलियों में आध्मान हो जाता है।

अग्नि और बल को बढ़ाने के लिये दीपक-पाचक-उत्तेजक योग बरते जाते हैं। इसके लिए सबसे सादी और अच्छी चीज़ तक्र है। इसे अन्य औषधियों के साथ मिलाकर भी लिया जा सकता है। भिलावे का चूर्ण २ तोला, सत्तू ६ तोला और तक्र ६॥ छटांक लेकर घोलकर कर पीलें। या घड़े में अन्दर घी लगाकर चित्रक की जड़ के कल्क से अन्दर प्रलेप करके तक्र डाल दें और यही तक्र पीने के काम में लावें। चित्रक के बजाय भारंगी, अजवायन, आँवले या गिलोय के कल्क से भी घड़े में लेप करके तक्र डालकर पी सकते हैं। पिप्पली-पिप्पलीमूल-चव्य चित्रक-विडंग-सोंठ-हरड़ के साथ तक्र का ही सेवन करें. १ मास तक, अन्य भोजन न करें। और बाँदे की जड़ के कल्क साथ भी तक्र लेना हितकर है। शाम के समय खील और सत्तू को तक्र के साथ लेह सा बनाकर लें। भात या अन्य जो भी भोजन करें उसके साथ तक्र अवश्य लें। चित्रक-हाउबेर-हींग के साथ मिलाकर तक्र को लें। हाउबेर-काला जीरा-धनिया-श्वेतजीरा-छोटी जीरी-कचूर पीपली-पीपलीमूल - चित्रक - गजपीपली - आजवायन इनके समभाग मिश्रित चूर्ण में तक्र मिलाकर घी से भावित

में डालदें; खट्टा होने पर इस तक्रारिष्ट को भोजन के आदि-मध्य अन्त मे प्यास लगने पर पीयें। यह तक्र अत्यन्त पाचक होता है, अत: जाठराग्नि को खूब बढ़ा देता है। यह तक्र धीरे-धीरे बढ़ानी या घटानी चाहिये। यह तक्र कल्प है।

अग्नि को प्रदीप्त करने के लिये अन्य अनेक योग दिये जाते हैं। सोंठ, पुनर्नवा चित्रक के क्वाथ से साधित दूध पीवें। कुटज की जड़ की छाल की घनक्रिया में पिप्पली इत्यादि पाचक दीपक पदार्थों का प्रक्षेप डाल का मधु के साथ चाटें; साथ में हिंग्वादि चूर्ण भी लें और तक्र या दूध का ही आहार करें। पाटला-अपामार्ग कण्टकारी और ढाक की लकड़ियों की स्वच्छ-राख पानी में घोल सुखाकर इस चूर्ण को घी के साथ चाटें; अन्य भी करंज इत्यादि के क्षार अलग या चित्रक-करंज-सोंठ के कल्क के साथ लें। प्रतिदिन प्रातःकाल तिलों को गुड़ के साथ मिलाकर १ छटांक की मात्रा में खाकर ठण्डा पानी पीवें। १२ सेर करंज छाल को ३६ सेर जल में क्वाथ करें, चौथाई रहने पर ८ सेर गुड़ और ३ पाव त्रिकुट चूर्ण को डाल कर १ मास तक पड़ा रहने दें, इस करंजशुक्त का यथाकाल भोजन के बाद सेवन करें पेय के रूप में। इसी प्रकार करंज का चुक्र (अ० हृदय) भी बनाकर सेवन करें। घी में भुनी हरड़ को गुड़ और पिप्पली के के साथ लें। तिल, भिलावा, हरड़ और गुड़ को समभाग में लें। २ माशे से ४ माशे की मात्रा में। सोंठ ७ भाग, पिप्पली ६ भाग, काली मिर्च ५ भाग, नागकेसर ४ भाग, तेजपात ३ भाग, दालचीनी २ भाग, छोटी इलायची १ भाग, मिश्री या चीनी २८ भाग—इस चूर्ण को लें, यह समशकर चूर्ण है। त्रिकुट और ढाक से साधित दूध लें (गरुडपुराण १८६। ११) या इन्हीं से

पलाशक्षार और त्रिकटु से साधित घृत प्रतिदिन १ तोला की मात्रा में सेवन करें (गरुडपुराण १८६।११॥ अग्निपुराण २८१।१०)। जूही-चित्रक-हलदी-त्रिफला-त्रिकटु इनके साथ तक्र का सेवन करें (अग्नि०।२८२।१४)। हरीतकी को सोंठ या गुड या सेंधा नमक या शर्करा और पीपली के साथ सेवन करें (गरुड०।१७०।२२॥ १८४।२)। गिलोय-पीपली-घी में भुनी हरड़ और त्रिवृत् का चूर्ण इन्हें मिलाकर मात्रा में लें (गरुड०।१७०।२०)। अग्नि और बल को बढ़ाने के लिये अनेक योग प्रसिद्ध हैं। भैषज्यरत्नावली के अगस्तिमोदक, माणिभद्रमोदक, विजयचूर्ण, जातिफलादि वटी, और शिलागन्धकवटिका; चक्रदत्त का नागार्जुनयोग (गरम पानी से); भावप्रकाश के शूरणमोदक और शंकरलौह इत्यादि में से किसी को अवस्थानुसार बरता जा सकता है। वसन्तकुसुमाकररस, स्वर्णवसन्तमालती आदि योग भी आंशिक रूप में उपयोगी हो सकते हैं।

मस्सों की शोथ को घटाने के लिये शोथहर (विशेषतया अन्तःशोथहर) द्रव्य बरतने चाहियें। भिलावा इस दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ है (हृदय)। अतः इसके योग देने चाहियें। आभ्यन्तर शोथ को दूर करने के लिये शिलाजतु और गुग्गुलु के प्रयोग से बहुत सफलता मिलती है। इन दोनों का सर्वोत्कृष्ट योग चन्द्रप्रभावटी (भैषज्य०) है। इस वटी में लोह इत्यादि होने से अग्नि और बल के अस्थापन में भी बड़ी सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त, जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, कुटज-बिल्व-चित्रक-सोंठ-अतीस-हरड़-धमासा-दारुहलदी-वचा-चव्य ये दस द्रव्य अपने प्रभाव से ही अर्शोहर होते हैं। अतः इनके योग इस रोग में उपयोगी होते हैं। अन्य भी अनेक योग प्रचलित हैं। भैषज्यरत्नावली के बाहुशालगुड, प्राणदागुटिका, अग्निमुखलौह,

अर्शःकुठाररस,चक्राख्यरस, और चंचत्कुठाररस; चरक के अभयारिष्ट, दन्त्यरिष्ट, फलारिष्टऔर कनकारिष्ट; चक्रदत्त के नागार्जनयोग (छाछ से), भल्लातकगुड और भल्लातकलौह; रसरत्नसमुच्चय के लोहाष्टक, सर्वलोकाश्रयरस, अर्शोघ्नवटक, अर्शोहररस, महोदयप्रत्ययसाररस, कनकसुन्दररस, अर्केश्वररस और त्रैलोक्यतिलक रस; भावप्रकाश के तिलादिमोदक और शंकरलौह इत्यादि योगों में से अवस्था-बल-काल-प्रकृति आदि के अनुसार उपयुक्त योग का चुनाव किया जा सकता है।

भेषजसेवन में सफलता प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि भेषजप्रयोग कम से कम ४ मास तक लगातार अवश्य किया जाय (वसवराजीय)।

विशिष्ट व्यापी भेषज

इसमें सबसे पूर्व हम कर्मविपाकजन्य अर्श की चिकित्सा देखेंगे। इस प्रकार के अर्श की चिकित्सा यह है कि ३८८०० कौड़ियों या उनके मूल्य के समान चांदी या सोने का दान किया जाय।

वातार्श की चिकित्सा— वातार्श में स्नेहन-स्वेदन-वमन-विरेचन-आस्थापन-अनुवासन का अवस्थानुसार प्रयोग करना चाहिये (योग०,सुश्रुत)। स्नेहसहित तक्र (भैषज्य०) का तथा अन्य वातहर अन्नपान का सेवन करना चाहिये। देवदारु आदि वातहर और पिप्पली आदि दीपक पदार्थों से घृत को साधित करें, इसमें हिंग्वादिचूर्ण मिलाकर चाटें। वात के विनाश और अग्नि तथा बल की वृद्धि के लिये पूर्वोक्त अनुलोमक और दीपक-पाचक योगों के अलावा बृहद् योगराज गुग्गुलु (शार्ङ्गधर), वचादिमोदक

(र० र० समुच्चय), मरिचादिचूर्ण, माणशूरणादिलौह (भैषज्य०), अश्वगन्धारिष्ट (भैषज्य०) आदि का तथा रजत-लोह-नाग-वंग आदि की भस्मों का सेवन करें। सप्तविंशति गुग्गुलु (चक्र०) भी उत्तम है। मस्सों की शोथ कम करने के लिये दुर्नामकुठारवटी (रसतन्त्रसार) या भैषज्यरत्नावली के कर्पूराद्यचूर्ण, षट्पलकघृत, चव्यादिघृत, दन्त्यरिष्ट, अर्शःकुठाररस, चञ्चत्कुठाररस आदि का सेवन उचित है।

कफार्श की चिकित्सा—कफार्श में वमन आदि करना चाहिये (योग०)। पथ्य रूप में सोंठ और कुलथी का सेवन हित-कर है (सुश्रुत)। तुलसी आदि कफनाशक पदार्थों के क्वाथ में घृत को साधित करके सेवन करना चाहिये(सुश्रुत)। दो सौ हरड़ों को ८२ सेर गोमूत्र में पकावें; मूत्र उड़ जाने पर इन हरड़ों में से दो दो को प्रतिदिन प्रातः शहद के साथ लें (अ० हृदय)। मस्सों के पार्श्व में से जोंक के द्वारा खून निकलवाकर आक के रस का लेप करें या दाहकर्म से मस्सों को जलादें और स्नेहरहित तक्र पीवें (भैषज्य०)। शरीर में कफ का शमन तथा अग्नि और बल को प्रबल करने के लिये आनन्दभैरव रस और ताम्र भस्म को समभाग में लेकर $\frac{1}{4}$ से $\frac{1}{2}$ रत्ती मात्रा में लें (रसरत्नसमुच्चय); या माणशूरणादिलौह (भैषज्य०) शूरणपिण्डी (चक्र०) व्योषा-दिचूर्ण, क्रव्यादरस (योग०), नवायसलोह में से किसी का प्रयोग करें। इनके अतिरिक्त गुडभल्लातक (चक्र०) और भैषज्य-रत्नावली के दन्त्यरिष्ट, अर्शःकुठार रस, चंचत्कुठाररस आदि भी उपयोगी हैं।

वातकफार्श की चिकित्सा—वातकफार्श का अर्थ है शुष्कार्श। वातार्श और कफार्श की सम्मिलित चिकित्सा इसकी भी

चिकित्सा है। शुष्कार्श में दो में से एक अवस्था मिली होसकती है—अतिसार या मलबन्ध। प्रथम अवस्था में पाचन योगों के द्वारा अतिसार को चिकित्सा की जाती है और द्वितीय में मलशोधक और अनुलोमक चिकित्सा (सुश्रुत)। मलशोधक और अनुलोमक चिकित्सा 'सर्वनिष्ठ' प्रकरण में दी जा चुकी है। अग्नि और बल को बढ़ाने के लिये तक्र के विविध प्रयोग तथा अन्य अनेक योग भी पहले दिये जा चुके हैं। उनके प्रयोग के द्वारा मल-वात और कफ-पित्त आदि का अनुलोमन होने पर अर्शरोग शान्त हो जाता है और जाठराग्नि भी प्रदीप्त होजाती है (चरक)। इसी प्रयोजन से इस अवस्था में निशोथ, दन्ती, ढाक, चूका (चांगेरी), चित्रक, पोई, चौलाई, शतावरी, विदारीकन्द, बथुआ, ब्राह्मी, कुलफा, मकोय, मानकन्द, इमली, जीवन्ती, कचूर, गाजर आदि में से किसी के पत्तों को घी और तेल में छौंक कर दही मिलाकर लें (चरक)। पाचक-दीपक योगों के साथ, हिंग्वादि-चूर्ण के साथ, कचनार की जड़ के चूर्ण के साथ या बिल्व-कैथ-सोंठ-काला नमक-भिलावा-अजवायन के साथ तक्र का सेवन करें (अ० हृदय)। अन्य भी दीपक पाचक योग बरतें जो पहले दिये जा चुके हैं। इस तक्र-प्रयोग से अतिसार ठीक हो जाता है। इसी प्रयोजन से जातिफलादि वटी (भैषज्य०), व्योषादि चूर्ण, लोध्रादि योग (भैष०) आदि योग बरतें और पथ्यरूप में लाल चावल, महाशालि, सांठी आदि विविध स्तम्भक आहार का सेवन करें (चरक)।

मस्सों की शोथ को कम करने के लिये भिलावा सर्वश्रेष्ठ है (अ० हृदय)। भिलावे का काढ़ा या तैल उपयुक्त मात्रा में, घी से मुख को स्निग्ध करके पीवें (सुश्रुत)। चन्द्रप्रभावटी, प्राणदा-

गुटिका, बाहुशालगुड आदि योग उत्तम हैं। अन्य भी कई योग व्यवहार में आते हैं। चरकोक्त पिप्पल्याद्यघृत, चव्याद्यघृत, नागरादिघृत, अभयारिष्ट, दन्त्यरिष्ट, फलारिष्ट, शर्करासव और और कनकारिष्ट; सुश्रुतोक्त पिप्पल्याद्यरिष्ट; अष्टांगहृदय के दुरालभारिष्ट, पलाशघृत और पंचकोलघृत; भैषज्यरत्नावली के कांकायनमोदक, दशमूलगुड, शूरणमोदक, नागरादिमोदक, तिलारुष्करादि, माणशूरणादिलोह, रसगुटिका, नित्योदितरस, अर्शःकुठाररस, चंचतकुठाररस, और शिलागंधकवटी (मलबन्धसहित में); चक्रदत्तकी शूरणपिण्डी; भेलसहिता का तालीशपत्रवटक; रसेन्द्रचिन्तामणि का दुर्नामारिलोह; बसवराजीय का वैक्रान्तरस इत्यादि में से अवस्थानुसार किसी को सेवन करें।

लेप आदि द्वारा स्थानीय चिकित्सा को हम आगे देखेंगे।

पित्तार्श की चिकित्सा—पित्तार्श में विरेचन आदि करने चाहियें (योग०)। देवदारु आदि तथा पिप्पली आदि के द्वारा साधित घृत में दीपक ओषधियों का प्रक्षेप डालकर इस घृत को और पृश्निपर्णी आदि के कषाय को सेवन करें (सुश्रुत)। मृदु पानीय क्षार का प्रयोग मुख द्वारा कर सकते हैं (चक्र०)। शीतवीर्य लघु अन्नपानौषध का प्रयोग उचित है। इस प्रयोजन से रजत भस्म, मौक्तिकपिष्टी, लोध्रासव (योग०), अभयारिष्ट (चरक), द्राक्षासव (योग०), बलादिघृत (भेल०) का प्रयोग करें। शिरीषपुष्पादि चूर्ण (भेल०) को चावलों के पानी से ले सकते हैं। इसके अतिरिक्त रसरत्नसमुच्चय का पित्तार्शोहररस; भैषज्यरत्नावली के भल्लातकादिमोदक, धत्तूराद्यचूर्ण, भल्लातामृतयोग, तीक्ष्णमुखरस; बसवराजीय का राजवल्लभरस आदि इसके विशिष्ट योग हैं।

रक्तार्श की चिकित्सा—रक्तार्श का अर्थ यहां रक्तस्रवण करने वाला अर्श है, जिसमें इस स्थान पर रक्तजनित और पित्त-रक्तजनित अर्श को सुविधा की दृष्टि से गिना गया है। यों, लक्षणों का सादृश्य होने से पित्तार्श भी इसी श्रेणी का है और वहाँ कही चिकित्सा इसमें भी लगती है। सामान्यतः संशमन चिकित्सा करते हैं (सुश्रुत)।

रक्तार्श में पित्त और रक्त की चिकित्सा की जाती है (भैषज्य०)। परन्तु रक्तार्श में वात और कफ का अलग-अलग अनुबन्ध भी होता है, अतः उन अवस्थाओं में वात या कफ की भी चिकित्सा करनी चाहिये (चरक)। फिर, रक्त का अतिस्राव हो जाने पर शारीरिक शक्ति क्षीण होकर वात का प्राबल्य हो जाता है, अतः तब वात को भी चिकित्सा करनी चाहिये। (अ० हृदय)।

सामान्यतः पहले रक्तस्राव की उपेक्षा करनी चाहिये, ताकि दूषित रक्त बाहर निकल जावे (चरक)। अन्यथा इस दूषित रक्त के स्राव को रोकने से शूल, आनाह, रक्तविकार आदि हो जाते हैं (हृदय) और यकृत में रक्तवृद्धि तथा संन्यास रोग हो जाता है। रक्तस्राव रोकना अभीष्ट होने पर मजीठ, सोहांजने आदि शोणितास्थापक द्रव्यों से साधित घृत लेना चाहिये (सुश्रुत)। बकरी का दूध, शाङ्गरीघृत, बलादिघृत उत्तम हैं (भेल०)। लोध्र-दारहलदी-बहेडे का गूदा—इनका चूर्ण मधु या चावलों के जल से, लाख-हलदी-मजीठ-मुलट्ठी-नीलकमल की गिरी को बकरी के दूध से, सिरस के फूल-कुटज की छाल-कुहे के फूल-दारहलदी-लोध-कायफल-अड़ूसा इनको मधु के साथ चाटकर चावलों का पानी पीवें (भेल०)। योगरत्नाकरोक्त अपामार्गबीजकल्क, चन्दनादि-

क्वाथ, दार्व्यादिक्वाथ उत्तम हैं। बोलपर्पटी (योग०), बोलबद्धरस (र० त० सार), जातिफलादिवटी (र० सा० संग्रह), उशीरासव (भैषज्य०), अर्शोघ्न चूर्ण (र० त० सार), शंखोदररस (र०यो० सागर) आदि योग उत्तम रक्तस्रावहर हैं। नारङ्गी के छिलके के ६ माशे चूर्ण को १-१ तोला घी और शक्कर से लें। बकायन की गिरी-निमोली की गिरी-काला भुना जीरा-घी में भुनी छोटी हरड़ समभाग चूर्ण करके रसौत के जल में झरबेरी के बराबर गोलियां बनालें और ताजे जल से लें। अनार के पत्तों का रस रक्तस्राव को बन्द करने के लिये अत्युत्तम है। बेलगिरी की राख भी अच्छी है (गरुड० । १८६ । १२)। अशोकारिष्ट (भैषज्य०) में अशोक की छाल उत्तम शोणितास्थापक है। रक्तस्रवण हो जाने के बाद कुटकी-चिरायता आदि कड़वी चीजें देने से अग्नि दीप्त होती है, दोषों का पाक होता है और स्राव बन्द होता है (चरक)। वातोल्वण रक्त हो तो पान, अभ्यङ्ग, अनुवासन आदि में स्नेह-पदार्थों को बरतें; पित्तोल्वण होने पर स्तम्भन करें; कफोल्वण रक्त हो तो कुटज की छाल के क्वाथ में सोंठ डालकर लें या अनार की छाल का क्वाथ लें या चन्दन के क्वाथ में सोंठ डालकर लें (चरक)। मक्खन और काले तिल मिलाकर नित्य खावें, या नागकेसर-मक्खन-शर्करा मिलाकर खावें, या दही-दही की मलाई-लस्सी को मिलाकर सेवन करें (भाव०)। पद्मकेशर-शहद-मक्खन-मिश्री-नागकेशर को मिलाकर खावें (भाव०)। मंजीठ, नीलकमल, मोचरस, लोध, लालचन्दन इन से साधित बकरी का दूध पीवें; या मटर-मूंग-अरहर-मसूर के यूष में तक्र मिलाकर उससे चावल आदि का भात खावें (भाव०)। अन्य आहारादि पहले दिये जा चुके हैं। करंजादिचूर्ण, फालसे के रस के साथ हरड़-तिल-आंवला-

मुनक्का-मुनक्को का चूर्ण, बकरी के दूध के साथ काले तिल आदि योग रक्तस्रावहर हैं (योग०)। कुटज अत्युत्तम है। चरकोक्त कुटजसत्त्व और कुटजादिघृत; अष्टांगहृदयोक्त कुटजावलेह और कुटजादि चूर्ण; भैषज्यरत्नावली का कुटजादिक्वाथ, और कुटज-रसक्रिया; शार्ङ्गधर का कुटजारिष्ट आदि इसके योग हैं। इनके अतिरिक्त चरकोक्त अतिविषादिचूर्ण, उत्पलादिचूर्ण, दाडिमादि-घृत, निदिग्धिकाघृत, और ह्रीवेरादिघृत; अष्टांगहृदयोक्त रोध्रादिचूर्ण, यष्ट्यादिचूर्ण, यवान्यादिचूर्ण, धातक्यादिघृत, यव-क्षारादिघृत; भैषज्यरत्नावली के अभयारिष्ट, चांगेरीघृत आदि योग भी रक्तस्रावहर हैं। पथ्य के रूप में प्याज, घी, छाछ आदि लें। यह रक्तस्तम्भन रक्त के पित्तकफोल्वण होने पर नहीं करना चाहिये, अन्यथा यह निरुद्ध दूषित रक्त रक्तपित्त-ज्वर-तृष्णा-अग्निमान्द्य-अरुचि-कामला-श्वयथु-गुदा आदि में शूल-खाज-फोड़े-फुन्सी-कुष्ठ-पाण्डु-शिरःशूल-मलबन्ध आदि उपद्रव कर देता है (चरक)। ऐसी अवस्था में सारिवा आदि रक्तशोधक द्रव्यों का तथा रक्तस्रावण का प्रयोग करना चाहिये।

मस्सों की शोथ को घटाने तथा वात की चिकित्सा के लिये अनेक योग व्यवहार में आते हैं। भल्लातकमोदक (रसरत्न-समुच्चय), तीक्ष्णमुखरस (भैषज्य०), शंकरलोह (भाव०), स्वर्ण-माक्षिक-अभ्रक की भस्में, लक्ष्मीविलास (र० यो० सागर), रसगुटिका (चक्र०), पञ्चानन और अष्टांगरस (भैषज्य०), भल्लातकामृत और वैक्रान्तरस (बसवराजीय) तथा तालीसपत्र-वटक (भेल०) उत्तम हैं।

त्रिदोषार्श की चिकित्सा—त्रिदोषार्श में सब दोषों की मिश्रित चिकित्सा होती है (सुश्रुत)। शार्ङ्गरीघृत (भेल०) और बस-

वराजीय के वैक्रान्तरस तथा अभ्रहरीतकी—ये योग बरत सकते हैं। आवश्यकतानुसार पूर्वोक्त सभी योगों का भी प्रयोग हो सकता है।

स्थानीय भेषज

स्थानीय भेषज-प्रयोग के नौ मुख्य अङ्ग हैं—लेप, तैल, स्वेदन, धूपन, पत्रबन्ध, वर्ति, परिषेक, बस्ति और अवगाह। हम प्रत्येक को संक्षेप से देखेंगे।

आलेपन—इसके अनेक योग हैं। थूहर के दूध में हल्दी पीसकर लगावें, या मुरगे की बीठ-सफेद रत्ती-हल्दी-पिप्पली-चूर्ण को गोमूत्र और गोपित्त में पीसकर लगावें, या जमालगोटा-चित्रक-ब्राह्मी-कलहारी के चूर्ण को गोपित्त में पीसकर लगावें या पिप्पली-सेंधा-कूठ-सिरस के बीज इनके कल्क को थूहर के दूध में या आक के दूध में रगड़ कर लगावें (सुश्रुत)। ये चारों लेप शुष्कार्श के हैं। इस चौथे लेप के कल्क में गुड और त्रिफला भी डाल सकते हैं (चरक)। पीपल-चित्रक-निशोथ-यीस्ट-मदनफलबीज-मुरगे की बीठ-हल्दी-गुड़ का प्रलेप या दन्ती-निशोथ-गिलोय-कबूतर की बीठ-गुड़-नीम-भिलावा इनका लेप या थूहर का डण्डा-आक का दूध-कड़वी तुम्बी के पत्ते-करंज-बकरी का मूत्र ये प्रलेप भी उत्तम हैं; इनसे मस्सों में संचित दुष्ट रक्त निकल जाता है और वे झड़ जाते हैं (चरक)। काकड़ासींगी-भाँग-कूठ-भिलावा-नीला थोथा-सोहांजने और मूली के बीज-कनेर और नीम के पत्ते-पीलु की जड़-बिल्व-हींग इनका प्रलेप भी अच्छा है (अ० हृदय)। सेंधा-बिन्दाल के बीज इन को कांजी से रगड़कर मस्सों पर लगाने से वे झड़ जाते हैं (योग०)। हरिद्रापुष्प-

शंखचूर्ण-मनःशिला को गजपिप्पली के जल में घोट कर लगावें (र० र० समुच्चय)। कड़वी तूँबी का चूर्ण रगड़ने से भी मस्से गिर जाते हैं। जमींकन्द-हलदी-चित्रक-सुहागा-गुड़ को कांजी में रगड़ कर मस्सों पर लेप करने से वे झड़जाते हैं। कासीस-गोरोचन-तुत्थ-वर्की हरताल १-१ तोला तथा रसौंत २ तोले को कांजी में रगड़ कर सूजे हुए मस्सों पर लगावें। कपूर ४ रत्ती-अफ़ीम १ रत्ती-मिट्टी २ तोले इन्हें जल में रगड़ कर सूजे हुए मस्सों पर लगावें।

रक्तार्श के मस्सों पर बेल को या काले तिलों को जलाकर भैंस के मक्खन में मिलाकर लगावें (ग० पुराण १८६। १२)। बड़ के पत्तों को जलाकर मधु और मक्खन मिलाकर लगावें (भेष० । व० राजीय)। कड़वी तोरी या मालकँगनी की जड़ या बीज का लेप भी अच्छा है। योगरत्नाकर का पनसादिलेप भी अच्छा है।

तीन चार मलहमें भी प्रचलित हैं। गाल-नट पाउडर ८० ग्रेन, ऐक्स्ट्रैक्ट ओपियम ३० ग्रेन, वैजलीन १ औंस–यह मलहम मस्सों को सुखाती भी है और दर्द को भी घटाता है। इसी में हैमामैलिस, कोनियम, जिंक ऑक्साइड ये चारों प्रत्येक २-२ ड्राम (६-६ माशे) मिलाकर बरतते हैं। पहली मलहम न मिलने पर मौर्फ़ीन या कोकेन भी डाललेते हैं। ऐनुसोल ऑइण्टमैण्ट भी गुदा में लगाते हैं।

तैलादि— शुष्कार्श के लिये कासीसादितैल सर्वोत्तम है (सुश्रुत)। इससे मस्से झड़ जाते हैं। काला सांप-सूअर-ऊँट-चिमगादड़-बिल्ली इनकी चर्बी को मस्सों पर लगावें (चरक)। कासीसादितैल सबसे अच्छा भैषज्यरत्नावली का है। बेल की

जड़-चित्रक-यवक्षार और कूठ इनसे साधित तैल मलें (अ०हृदय)। दर्द होने पर पञ्चकालघृत भी अच्छा है (अ० हृदय)। तमाखू-झरबेरी की जड़ की छाल-भांग-बिन्दाल के फल १०-२० तोले को यवकुट करके गौ की मस्तुरहित दही (१ सेर) के साथ मिलाकर हाँडी में थोड़ा सा सरसों का तेल चुपड़ कर और औषध भरकर पातालयन्त्र-विधि से तेल निकाल लें। इसमें से फुरहरी भरकर मस्से पर सुबह लगावें। हर तीसरे दिन लगावें। आठ दस बार में मस्से झड़ जाते हैं। भोजन में घृत का सेवन करें।

रक्तार्श के मस्सों पर दूर्वाघृत या शतधौत या सहस्रधौत घी लगावें (चरक)। मांसरस में स्नेह-पदार्थ डालकर गरम-गरम से तर्पण करें और कोसे तेल, घी आदि लगावें (अ० हृदय)। चांगेरीघृत भी अच्छा है।

स्वेदन—अभ्यंग के बाद जौ-उड़द-कुलथी की पोटलियों से या गौ-गधा-घोड़ा इनके स्नेहयुक्त पुरीषों के पिण्डों से या सस्नेह तिलकल्क आदि से या सस्नेह वचा या सोये के पिण्डों से सेक करें। या स्नेहयुक्त सत्तू की पोटली से या सूखी मूली के सस्नेह पिण्डों से या सोहांजने की जड़ के सस्नेह पिण्डों से सेक करें। या कुष्ठ-तैल लगाकर ईंट के चूरे-अजवायन-गाजर का शाक इनसे सेक करें।

शुष्कार्श के स्तब्ध मस्सों पर बैलाडोना इक्थ्योल ग्लिसरीन लगाकर मैगसल्फ या बोरिक ऐसिड का सेक (आर्द्र रूप में) करने से दर्द और सूजन में कमी होती है। ऐसिटिक ऐसिड से भी सेक किया जाता है।

धूपन—शुष्कार्श में। दो ईंटों का चूल्हा बनाकर रोगी ईंटों पर उकडू बैठ जावे। नीचे मनुष्य के बाल-साँप की केंचुल-बिल्ले

की खाल-आक की जड़-शमी के पत्ते इन्हें जलाकर धूआँ दें, या धनिया-विडंग-देवदार-जौ-घी का धूम्र दें, या बड़ी कटेरी-असगन्ध-पिप्पली-तुलसी के पत्ते-घी का धूआँ दें, या सूअर का मल-गोबर-सत्तू का, या हाथी की लीद-घी-राल-शिलाजीत का धूआँ दें (चरक)। गेहूँ का आटा ८ तो०-हींग २ मा०-भिलावा २ तो० मिला कर धूपन करें (योग०)। कचूर ५ मा०-विडंग ४ मा०-भांग ३ मा० को निर्धूम कोयले पर रखकर उलटी-चिलम से ढक दें और धूआँ दें। या कुचला-कपूर-शमीपत्र-हल्दी-छोटी कटेरी के फल इनके समभाग-चूर्ण का धूपन दें।

रक्तार्श में राल-कपूर-सरसों का तेल इनका धूपन देना चाहिये (भैषज्य०)।

पत्रबन्ध—रक्तार्श में यदि बहुत दाह हो तो नाभि के नीचे रोममय प्रदेश से लेकर त्रिकदेश-पर्यन्त भाग में ठंडे जल से सींचे हुए केले-श्वेतकमल-या नीलकमल या लालकमल के ताजे पत्तों से ढकें और इन्हें बदलते रहें।

शोथमय शुष्कार्श में एरण्डपत्र भी बाँधे जा सकते हैं।

वर्ति—कड़वी तूंबी के बीजों को कांजी में घिसकर उससे उस तूंबी के भीतरी जाल को लीप कर बत्ती सी बना लें। या कड़वी तूंबी की भीतरी जाली और जड़ के अवलेह में क्षार और रत्ती-जमींकन्द-कद्दू के बीज डालकर बत्ती सी बना लें। इन दोनों बत्तियों को शुष्कार्श में गुदा में डाल रखने से मस्से झड़ जाते हैं (अ० हृदय)। इसके साथ भैंस की दही खानी चाहिये (भैषज्य०)। पुराने गुड़ को कुछ जल में घोल कर बिन्दालडोडे का प्रक्षेप डालकर बत्ती बना लें, इसे अलग ही या पीलू के तेल में भिगोकर गुदा में रखने से मस्से गिर जाते हैं और दर्द भी नहीं होता (भैषज्य०)।

रूई की बत्ती भी इसी तरह बरती जा सकती है (र०र०समुच्चय)।

लिक्विड हैजलीन में या आयोडैक्स और कैलामीन पाउडर के मिश्रण में लिण्ट की एक बत्ती भिगो कर गुदा में रखें। या हैमामैलिस का सत्त्व १-२ ग्रेन, मौर्फिया $\frac{1}{8}$ ग्रेन की बनी बत्ती बरतें। या ऐनुसोल की बत्ती का व्यवहार करें।

परिषेक—सूजे हुए मस्सों को ताज़े कनेर-चमेली-सत्यनाशी इनके कषाय से धोवें या कोसे काँजी, दूध, मूत्र आदि से धोवें (भै०र०)। बिन्दाल के कषाय से शौच करें, ख़ास तौर से जब मलत्याग में रक्तस्राव हुआ हो (भै० र०)। रक्तार्श में ही बांसा-आक-एरण्ड-बेल इनके पत्तों के क्वाथ से परिषेक करना चाहिये और यदि रक्तस्राव बहुत ही अधिक होरहा हो तो मुलट्ठी-बड़-गूलर-पीपल-पिलखन-बेंत-बेरी-अर्जुन-परवल-बांसा-कुहा-जवासा-नीम इनके क्वाथ से धोना चाहिये या ठण्डे जल की धारा इस प्रदेश पर डालनी चाहिये (चरक)। या फटकरी के पानी से धोवें (फटकरी ४ माशे, जल १ पाव)।

अति रक्तस्राव में हैजलीन को समभाग पानी में मिलाकर उससे धोने पर भी लाभ होता है। या ऐड्रानेलीन (१: १०००) लगावें या टिंचर फ़ैराई परक्लोर और हैज़लीन को समभाग में मिला कर स्राव-स्थान पर लगावें।

बस्ति— शुष्कार्श में उदावर्त-आनाह-गुदशोथ आदि हों तो अनुवासन-बस्ति करना चाहिये, एतदर्थ पिप्पल्यादि-अनुवासन सर्वोत्कृष्ट है (चरक)। अथवा दशमूल के क्वाथ में दूध, गोमूत्र, तैल, सैन्धव, मदनफलकल्क आदि डाल कर निरूह-बस्ति देनी चाहिये (चरक)। अन्य भी स्निग्ध बस्तियां दी जा सकती हैं (अ० हृदय)।

रक्तार्श में क्षीर-बस्ति करनी चाहिये (भेल०)। रक्तार्श में यदि वात प्रबल हो तो घृतमण्ड से शीघ्र अनुवासन करें या पिच्छा-बस्ति दें (चरक)। ऐसी अवस्था में मुलट्ठी-कमल-मोचरस और द्विगुण दूध से पक्व तैल का अनुवासन भी दिया जा सकता है (अ० हृदय)।

अति रक्तस्राव में फटकरी के पानी का या समभाग हैजलीन और जल का ऐनीमा भी अति लाभकारी होता है।

अवगाह—अच्छी प्रकार से अभ्यंग करके मूली-त्रिफला-आक-बांस-वरुण-अरणी-साहांजना-अम्लोट इनके पत्तों के कोसे क्वाथ में या बेरी के पत्तों के कोसे क्वाथ में अवगाह (कटिस्नान) करें। अथवा बेल के पत्तों के कोसे क्वाथ में या कोसी छाछ में अथवा कोसी कांजी में गोमूत्र में अवगाह करें (चरक)।

रक्तार्श में रक्तस्राव-क्लेद और दाह बहुत हो तो मुलट्ठी-खस-चन्दन-पद्माक-कुश और काश की जड़ इनके क्वाथ में अवगाह करें या मस्सों पर ठंडा तेल चुपड़ कर मुलट्ठी और वेतस के क्वाथ में ईख का रस मिलाकर उसमें या ठण्डे जल में अवगाह करें (चरक)।

स्थानीय भेषज का प्रकरण समाप्त करने से पूर्व यह बता देना आवश्यक है कि स्थानीय सफाई अत्यन्त आवश्यक है। बिन्दाल के क्वाथ से या फटकरी-जल से धोकर नरम रूई से पोंछ कर ऊपर कैलामीन पाउडर या बिन्दालडोडे का चूर्ण मलकर आवश्यकतानुसार पत्रबन्ध या पट्टबन्ध कर देना चाहिये।

क्षार

इसके तीन अंग हैं—प्रतिसारणीय क्षार का पातन, क्षार-सूत्र से छेदन और क्षार का सूचीवेध। हम क्रमशः इन्हें लेंगे।

क्षार का क्षेत्र शुष्कार्श और नरम-फैले हुए-गहरे तथा उभरे हुए मस्से हैं (सुश्रुत)।

प्रतिसारणीय क्षार—काले फूल वाले मोखे के वृक्ष को यथाविधि तिल की लकड़ियों से जलाकर राख करें। यह राख ८ सेर लेकर ४८ सेर जल में घोल लें और मन्दाग्नि पर कड़छी से हिलाते हुए पकावें। तिहाई रह जाने पर उतारलें। ठण्डा होने पर कपड़े से छानकर छने जल को पुनः पकावें और जब यह गाढ़ा होने लगे तो छने हुए क्षारजल का आठवां भाग शंखभस्म इसमें मिलादें या अनबुझे चूने के समास लाल गरम करके डालदें और जब यह न बहुत गाढ़ा और नाहीं बहुत पतला हो जावे तो उतार कर शीशी में रखलें (चक्र०। सुश्रुत।)। यद्वा, १ सेर कास्टिक सोडा और २ सेर अनबुझा चूना एक बर्तन में मिलावें। इसमें एक मन पानी मिला कर लकड़ी के डंडे से चला कर ५ दिन तक खुले मैदान में रखें। प्रतिदिन एक-दो वार डंडे से हिला दें। छठे दिन ऊपर से स्वच्छ पानी लोहे की कड़ाही में निकाल कर चूल्हे पर चढ़ावें। आध सेर जल शेष रहने पर लहसन का रस ४ तोले मिला कर मन्दाग्नि से पकावें। आधा (२० तोले) जल रहने पर उतार कर इस क्षार को शीशी में भरलें (रसायनसार)।

पवित्र और सब उपकरणों से युक्त स्थान में, सामान्य और मेघरहित काल में समतल तख्त या मेज़ पर अर्शोरोग से पीड़ित बलवान और सहिष्णु रोगी को स्नेहन और स्वेदन के बाद स्नेहयुक्त-गरम-तरल भोजन खिला कर इस प्रकार उलटा लिटावें कि उसके गुदप्रदेश पर प्रकाश सीधा पड़े। रोगी के शरीर के ऊपर के हिस्से को उसी तख्त पर बैठे एक बलवान पुरुष की

गोद में थमादें। इस अवस्था में रोगी की कमर कुछ ऊँची उठी हो और घुटने मुड़ कर फलक पर टिके हों तथा जाँघ और ग्रीवा को चमड़े के फीते से बाँध कर स्थिर कर लिया गया हो। बलवान परिचारक रोगी को पकड़े रहें। फिर पूर्वोक्त अर्शोयन्त्र को घी आदि से स्निग्ध करके धीरे-धीरे रोग की गुदा में डालें और मस्सों को देखकर शलाका से उठावें। मस्सों को रूई या कपड़े से पोंछकर दर्वी, बुरुश या फुरहरी से क्षार लगावें और यन्त्र के मुख को बन्द करके १०० मात्रा (लगभग २ मिनट) तक प्रतीक्षा करें। इससे मस्सों का रंग जामुन जैसा हो जायगा, न हो तो पुनः क्षार लगावें। फिर इस क्षार को उदासीन करने के लिए कांजी-दही के पानी या सिरके से धोवें और मुलट्ठी का चूर्ण घी में मिलाकर लगावें और ठण्डे या गरम पानी में कटिस्नान करावें। हर आठवें दिन १-१ मस्से पर यह प्रयोग करें। पहले दाईं ओर के, फिर बायें, फिर पिछले और सब से अन्त में अगले मस्सों पर इस प्रकार क्षार लगावें। अग्निवृद्धि के लिये स्नेह का प्रयोग करें।

क्षारसूत्र—थूहर के दूध में हल्दी का चूर्ण डाल कर मिलादें। इसमें भिगोकर धागे को धूप में सुखादें। इस प्रकार प्रतिदिन करें। सात बार ऐसी भावना देने पर क्षारसूत्र तैयार हो जायगा [भाव०। चक्र०। भै० र०)। यद्वा स्ट्रौंग आयोडीन, टैनिक ऐसिड आदि से सूत्र को भावित करलें। इस सूत्र से इस तरह बाँधें कि धीरे-धीरे कसा जा सके। इससे धीरे-धीरे मस्से कट जाते हैं। क्रम यहाँ भी वही है— दायाँ-बायाँ-पिछला-अगला।

सूचीवेध—इसका अर्थ है, क्षारद्रव्यों को पिचकारी (सिरिंज) के द्वारा मस्से में डालकर मस्से को सुखा या मुर्झा देना। इसके

लिये विशेष प्रकार की 'पाइल्स सिरिंज' काम में आती है। इस सिरिंज के पिस्टन पर अङ्क लगे होते हैं और सूई पर भी कर्णिका लगी होती है, ताकि वह ज्यादा भीतर न जा सके। समभाग जल और ग्लिसरीन में शुद्ध कार्बोलिक ऐसिड का १० प्रतिशत विलयन बना लें, इसकी ५ से २० बूंदें मस्से के केन्द्र में डाल दें। ५ प्रतिशत घोल भी बरतते हैं। यदि २० प्रतिशत घोल हो तो २ से ६ बूंदें डालें। बादाम के तेल में ५ प्रतिशत घोल बना कर प्रति सप्ताह एक-एक मस्से में १ से २ सीसी (१ से २ माशा) डालना ठीक है, इससे से मस्सा चमड़े की तरह सख्त और सफ़ेद हो जाता है। मस्से की सूजी हुई शिरा के चारों ओर १ औंस बादाम-तेल में २० ग्रेन कार्बोलिक ऐसिड और १ ग्रेन मैन्थोल की ५ सीसी (५ माशे) का सूचीवेध उत्तम है। सूचीवेध से शिरा में रक्त का थक्का बन जाता है और व्रण भर जाता है। आजकल कुनीन यूरिया हाइड्रोक्लोर के ५ प्रतिशत घोल का भी अधःश्लैष्मिक तन्तु में सूचीवेध दिया जाता है, और बड़ा लाभ होता है।

अग्निकर्म

इसका भी शुष्कार्श में ही प्रयोग होता है, जब मस्से खुरदरे-स्थिर-ऊँचे और कड़े होते हैं (सुश्रुत)। इसकी दो विधियाँ हैं—अग्नि द्वारा या विद्युत् के द्वारा। पूर्वोक्त प्रकार से ही मस्से को देखकर और पोंछ कर दोनों में से किसी भी उचित विधि से दाहकर्म करना चाहिये। ठीक तरह से दग्ध होने पर दाह गहरा नहीं होता, रग पके ताड़ जैसा हो जाता है और रक्तस्राव भी बन्द हो जाता है। तब मधु और घृत का लेप करके वंशलोचन-

पिलखन की छाल-लाख चन्दन-गेरू-गिलोय इनके चूर्ण को घी के साथ मिलाकर वहाँ लेप करें। मल-मूत्र-रोध हो जाय तो कोसे जल से कटिस्नान करावें और कोसे जल से यवक्षार दें। बस्ति आदि में जलन हो तो शतधौत घी से प्रलेप करें। व्रणशोधनार्थ त्रिफलाक्वाथ में शुद्ध गूगल को १ से ४ रत्ती की मात्रा में डाल कर दें। ज़ख्म भरने पर पिप्पल्यादि-तैल से अनुवासन-बस्ति देकर अग्निदीपक औषधियों और घृत का सेवन करावें।

शस्त्रकर्म

शुष्कार्श में यदि मस्से बहुत बड़े, बाहर को निकले हुए, खूब आध्मात, वृन्तमय, उभरे हुए और क्लेदयुक्त हों तो शस्त्र-कर्म कराया जाता है (सुश्रुत)। इसके दो रूप और प्रयोजन हैं—रक्तस्रावण और अर्शःकर्तन (चरक)। यदि मस्से सख्त और सूजे हुए हों तो शस्त्र या जोंक से इस संचित रक्त को निकाल देना चाहिए (भाव० । भैषज्य० ।) रक्तार्श में भी दूषित रक्त को निकालने के लिये शस्त्र, जोंक, सुई या कूची (त्रिकूर्चक) को बरतना चाहिये (चरक । अ० हृ० ।) । यदि मस्से में खून का थक्का हो तो सीधा चीरा देकर उसे निकाल भी दिया जाता है।

शस्त्रकर्म का द्वितीय रूप है, अर्शःकर्तन। इसकी अनेक विधियाँ हैं। मुख्यतः वे दो प्रकार की हैं—प्रथम तो वे जिनमें मस्सों को काट दिया जाता है और ऐंठन देकर रक्त वाहिनी को बन्द कर दिया जाता है और द्वितीय वे जिनमें मस्सों की समूची भूमि को ही काट कर अलग कर दिया जाता है।

इन क्षार-अग्नि और शस्त्रकर्म में तथा यन्त्र-प्रयोग में बहुत अधिक सावधानी रखनी चाहिए, अन्यथा बड़े भयंकर उप-द्रव इनसे खड़े हो जाते हैं। (सुश्रुत । चरक ।)।

उपद्रवों की चिकित्सा

अर्शोरोग के उपद्रव अनेक प्रकार के हैं—बद्धगुद (चरक), अतिसार, मलबन्ध, प्रवाहिका-ग्रहणी आदि, अतिरक्तस्राव, पाण्डु, गुदभ्रंश, शूल, उदावर्त (वाग्भट) इत्यादि। यहाँ हम केवल गुदभ्रंश और उदावर्त को ही लेंगे। अन्य उपद्रवों की चिकित्सा सामान्य है।

उदावर्त (वाग्भट) में सामान्यतः पिप्पल्यादि-अनुवासन दिया जाता है। कल्याणक्षार (हृदय) उपयोगी है। स्निग्ध वर्तियाँ और बस्तियाँ भी यथायोग बरतनी चाहियें (हृदय)। और मलबन्ध की चिकित्सा (अनुलोमक) करनी चाहिये। त्रैलोक्यतिलक (र० र० समुच्चय) उत्तम योग है।

गुदभ्रंश में धीरे से सावधानी के साथ इसे यथास्थान स्थापित कर देना चाहिये। सामान्यतः रोगी को रात को सोने से पूर्व इसे अवश्य यथास्थान स्थापित कर लेना चाहिये, न कि सुबह सारे कामों से पहले। बिन्दाल के कषाय से शौच करना चाहिये। पिच्छा-बस्ति से लाभ होता है (हृदय)। चांगेरीघृत सर्वोत्तम योग है (भैषज्य०)। चव्यादिघृत, ह्रीवेरादिघृत आदि योग भी दिये जाते हैं (योग०)।

पाण्डु के लिये लोह के योग देने चाहियें।

यह अर्शोरोग की संक्षिप्त चिकित्सा है।

सहायक-पुस्तक-सूची

१. सुश्रुतसंहिता, २. चरकसंहिता, ३. भेलसंहिता, ४. शार्ङ्गधरसंहिता, ५. अष्टांगहृदय, ६. अ० संग्रह, ७. योगरत्नाकर, ८. भैषज्यरत्नावली, ९. रसरत्नसमुच्चय, १०. रसेन्द्रसारसंग्रह, ११. रसयोगसागर, १२. रसेन्द्रचिन्तामणि, १३. रसायनसार, १४. चक्रदत्त, १५. भावप्रकाश, १६. माधवनिदान, १७. वसवराजीय, १८. रसतन्त्रसार, १९. चिकित्सातत्त्वप्रदीप, २०. वैद्यकशब्दसिन्धु, २१. शब्दकल्पद्रुम, २२. अग्निपुराण, २३. गरुडपुराण, २४. शातातपस्मृति, २५. प्रत्यक्षशारीर, २६. वाचस्पत्यकोष, २७. विश्वकोष, २८. सामयिक पत्रपत्रिकादि।

1 Encyclopœdia Medica. 2. Strumpell's Practice of Medicine. 3. Savill's System of Clinical Medicine. 4. Chandra's Treatise on Treatment. 5. Moore's Family Medicine. 6. Baker's New Medical Dictionary. 7. Rose & Carless's Practice of Surgery. 8. Everybody's Home Doctor. 9. G. N. Mukherjee's Surgical Instruments of the Hindus. 10. Gray's Anatomy.